सम्मेलन पत्रिका

(शोध–त्रैमासिक)

भाग	:	१०९, संख्या–१
पौष-चैत्र	:	संवत् २०८०
जनवरी-मार्च	:	सन् २०२४

प्रधान सम्पादक

विभूति मिश्र

सम्पादक

रामकिशोर शर्मा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज-३

ISSN : 2278-1773, यू०जी०सी० केयर लिस्ट पत्रिका

प्रकाशक
विभूति मिश्र
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज–३
दूरभाष (कार्यालय)– ०५३२–२५६४१९३

- सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों तथा प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रकाशक व सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक का होगा।
- इस पत्रिका में विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित एवं अभिनिर्णित लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

एक प्रति का मूल्य : १०५ रु०
वार्षिक मूल्य : ४०० रु०

विदेश के लिए वार्षिक मूल्य : २० डालर (डाक व्यय अतिरिक्त)

वार्षिक सदस्य बनने के लिए **४००.०० रु०** का ड्राफ्ट या पोस्टलआर्डर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १२ सम्मेलन मार्ग, प्रयागराज–३ के नाम भेजें। कृपया चेक या मनीआर्डर न भेजें।

मुद्रक :
सम्मेलन मुद्रणालय
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद–३

विषय-सूची

सम्पादकीय

क्र.सं.	आलेख	लेखक	पृष्ठ
	आलेख		
१.	कबीर के निर्गुण राम : समर्पण और श्रद्धा का सन्दर्भ	–डॉ० वीरेन्द्र सिंह बर्त्वाल	७–१४
२.	संकटों से जूझते किसान की करुण कथा : 'तेरा संगी कोई नहीं'	–डॉ० नवीन नंदवाना	१५–२२
३.	कबीर : कालजयी कविताई	–डॉ० विजयलक्ष्मी	२३–२७
४.	नरेश मेहता के काव्य में छन्द	–उत्तमचन्द चौहान	२८–३२
५.	सन्त रैदास के काव्य में सामाजिक मूल्य	–डॉ० पूर्णिमा आर	३३–३८
६.	अवधी लोकगीतों में बाल-विमर्श	–डॉ० अजयकुमार	३९–४५
७.	हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा का योगदान	–डॉ० रूपेश कुमार	४६–५१
८.	भारत बोध और हिन्दी साहित्य	–डॉ० भावना	५२–५८
९.	वर्तमान सन्दर्भ में सूरदास के साहित्य की प्रासंगिकता	–डॉ० मुकेश कुमार	५९–६४
१०.	मुक्तिबोध की कालजयी कृति ब्रह्मराक्षस : शिल्पगत वैशिष्ट्य	–सुशान्त कुमार यादव	६५–७१
११.	नन्द किशोर नवल जी रचित 'समकालीन काव्य-यात्रा'	–अर्पणा शुक्ला	७२–७७
१२.	'प्याज के छिलके' कहानी संग्रह में अभिव्यक्त मध्यम वर्गीय समाज	–रूबी सिंह	७८–८२
१३.	जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह : प्रसादोत्तर नाटकों के प्ररिप्रेक्ष्य में	–कृष्ण कुमार जायसवाल	८३–८९
१४.	हिन्दी नवजागरण की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति : भारत-भारती	–डॉ० रत्नाकर यादव	९०–९६

१५. मुक्तिबोध का जीवन और नई कविता	–सुनील कुमार मिश्रा	९७–१०३
१६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कविताओं में अभिव्यक्त सांस्कृतिक सौन्दर्य	–सोनम कुमारी	१०४–१०७
१७. तृतीयलिंग विमर्श का इतिहास	–अनुराधा सिंह	१०८–१११
१८. बलराम की कहानियों में कृषक जीवन का संघर्ष	–पवन कुमार शर्मा	११२–११८
१९. विद्यापति पदावली के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ	–मनीष यादव	११९–१२३
२०. सूरदास के कृष्ण (विशेष सन्दर्भ : खंजन नयन)	–विकास तिवारी	१२४–१३०
२१. संत–साहित्य के परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों की बात	–पूजा सिंह	१३१–१३६
२२. भारतीय साहित्य में लोक परम्परा का चित्रण	–रितु यादव	१३७–१४२
२३. गोविन्द मिश्र के उपन्यासों में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध	–डॉ० सरिता दुबे	१४३–१४६
२४. किसान आत्महत्या यथार्थ और विकल्प : ढलती साँझ का सूरज	–कमल सिंह पटेल	१४७–१५२
समीक्षा		
२५. समय–समाज और साहित्य के सौन्दर्य को उकेरते निबन्ध	–डॉ० लव कुमार	१५३–१५६

सम्पादकीय

'सम्मेलन पत्रिका' पं० मदन मोहन मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के द्वारा महात्मा गाँधी की सहमति से १९१० में स्थापित संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका है। इसका प्रकाशन १९१३ से आरम्भ हुआ, तब से अनवरत यह पत्रिका प्रकाशित हो रही है। लगभग १०८ (एक सौ आठ) वर्षों में इसमें अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व के शोध पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। मालवीय जी विशेषांक, गाँधी-टण्डन विशेषांक, लोक संस्कृति विशेषांक के अलावा जन्मशती के अवसर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्याायन, भारतेन्दु आदि लेखकों पर उच्चस्तरीय सामग्री से युक्त विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। पत्रिका की गरिमामयी परम्परा तथा स्तर को बनाए रखने के लिए सम्पादक की अपेक्षा लेखकों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। एतदर्थ लेखकों से निवेदन है कि शोध आलेख टंकित कराकर तथा एक बार गंभीरता से उसे पढ़कर, त्रुटियों को सुधार करके प्रकाशन हेतु प्रेषित करें। आलेख लगभग २००० से ४००० शब्दों के बीच होना चाहिए। आलेख यथासंभव नवीन विषयों या ज्ञात तथ्यों की पुनर्व्याख्या से सम्बन्धित हों। एक या दो पुस्तकों से उतारकर आलेख न भेजें। शोध आलेख में उद्धृत कविताओं, मतों तथा अन्य उद्धरणों के लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, पृष्ठ संख्या, संस्करण आदि का उल्लेख अवश्य करें। शोध छात्र अपने आलेख को शोध निर्देशक को दिखाकर उनसे अग्रसारित कराकर भेजें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप लोग इस उन्नत परम्परा के संरक्षण में अपना अमूल्य योगदान करेंगे।

–रामकिशोर शर्मा

आलेख

कबीर के निर्गुण राम : समर्पण और श्रद्धा का सन्दर्भ

–डॉ० वीरेन्द्र सिंह बर्त्वाल

समाज और संत का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज में शुचिता, सद्विचार, कर्त्तव्यपरायणता के लिए सन्तों की बाणी और संतों का व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का स्वर्णकाल कहे जाने वाले भक्तिकाल में अनेक सन्तों ने समाज को नई दिशा दी है। उन्होंने न केवल समाज में फैले आडम्बरों और अन्धविश्वासों का तीव्र खण्डन किया, अपितु समाज में तथ्यों पर आधारित सत्य को स्थापित करने का अनुकरणीय प्रयास भी किया है।

कबीर दास इसी कोटि के सन्त हुए हैं। उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम धर्म में व्याप्त बुराइयों का प्रतिरोध और एकेश्वरवाद का समर्थन किया है। साखी, सबद और रमैनी के रूप में उपलब्ध उनकी रचनाओं की भाषा जितनी सहज–सरल है, उतनी ही गम्भीरता से उनमें मनुष्य जीवन के सत्य को उजागर किया गया है।

सन् १३९८ (संवत् १४५५) को वाराणसी में जन्मे और सन् १५१८ (संवत् १५७५) में मगहर में मृत्यु को प्राप्त हुए कबीर ने १२० वर्ष की आयु पायी थी। कबीर की सामान्य से अधिक इस आयु पर लोगों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। कबीर के सम्बन्ध में कुछ जानकारियाँ अस्पष्ट–सी हैं। कुछ लोग कबीर की आयु १२० वर्ष स्वीकार करते हैं, जबकि कुछ ने उनकी जीवन अवधि के ११९ वर्ष बताये हैं। कबीर के जन्म के सम्बन्ध में एक पद्य प्रसिद्ध है–

चौदह सा पचपन साल भए, चंद्रवार एक ठाठ ठाए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए।
घर गरजे दामिनि दमके बूंदे बरसे झर लाग गए।
लहर तलाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रकट भए।।१।।

यह पद्य कबीरदास के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास का कहा हुआ बताया जाता है। इसके अनुसार कबीरदास का जन्म लागों ने संवत् १४५५ ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को माना है, परन्तु गणना करने से संवत् १४५५ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् १४५६ निकलता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है 'चौदह सौ पचपन साल गए', अर्थात् उस समय तक संवत् १४५५ बीत गया था।..... संवत् १४५६ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंदवार को ही पड़ती है। अतएव यही संवत कबीर के जन्म का ठीक संवत् जान पड़ता है।[२]

डॉ० श्यामसुन्दर दास के सम्पादकत्व में प्रकाशित और कबीर ग्रन्थावली में यही निष्कर्ष निकाला गया है कि कबीरदास जी का जन्म १४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ में हुई होगी।[३]

इस आधार पर देखें तो कबीरदास की आयु ११९ वर्ष बैठती है।

वहीं, डॉ० माताप्रसाद गुप्त के सम्पादकत्व वाली कबीर ग्रन्थावली में तथ्य आधारित उल्लेख किया गया है कि सं० १४५५ और सं० १५६९ में मृत्यु मानने पर कबीर का जीवनकाल ११४ वर्षों का ठहरता है।[४]

'कबीरपरिचई' में अनन्तदास ने कबीरदास के व्यक्तित्व और जीवनी से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। उनके अनुसार वे जन्म से जुलाहे थे, उनका निवास-स्थान काशी था, उनके गुरु रामानन्द थे, सिकंदर लोदी ने उन्हें अनेक प्रकार से यातना दी थी तथा उन्होंने १२० वर्ष का पवित्र जीवन पाया था।[५]

कबीर का जन्म काशी में हुआ था और नीरू-नीमा नामक जुलाहा दम्पती ने उनका लालन-पलन किया। उनके नीरू और नीमा नामक दो सन्तानें हुईं।

कहते हैं, काशी में स्वामी रामानन्द का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी किसी विधवा कन्या को स्वामी जी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के तालाब के पास फेंक आयी। अली या नीरू नाम का जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ।[६]

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। उनके सम्बन्ध में एक उक्ति प्रचलित है—मसि कागद छुयो नहीं। उनकी कोई शिक्षा-दीक्षा नहीं हुई थी, परन्तु उन्होंने संसार को अध्यात्म, धर्म इत्यादि के ज्ञान का वृहद् भण्डार प्रदान कर दिया। साखी, सबद और रमैनी तीन रूपों में कबीर की रचनाएँ बीजक नामक ग्रन्थ में संग्रहित हैं। कबीर की भाषा जनसाधारण की भाषा है, वह क्लिष्ट न होने के कारण हर किसी को आसानी से समझ आ जाती है।

भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। कबीर के मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर' कहा है। उनकी भाषा में कई भाषाओं का मिश्रण था, इसलिए उनकी भाषा सधुक्कड़ी भाषा कहलाती है। कई स्थानों पर उन्होंने उलटबांसी भाषा का प्रयोग किया है, जो बाह्य रूप से नितान्त असंगत प्रतीत होती है, किन्तु गहराई से देखने पर उसमें खास तरह की संगति होती है।[७]

भक्तिकाल की निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि कबीर एकेश्वरवादी थे। उनका भगवान निराकार रूपहीन, गन्धहीन, स्पर्शहीन है। कबीर ने उसे गोविन्द और राम भी कहा है, लेकिन वे राम दाशरथी नहीं हैं। वे सर्वत्र हैं, कण-कण में व्याप्त और घट-घट वासी हैं।

राम यानी परमात्मा की प्राप्ति को मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य बताते हुए कबीर स्पष्ट करते हैं कि राम के बिना कुछ भी नहीं है। साधुओं की संगति और ईश्वर की प्राप्ति से ही इस जीवन की परमगति सम्भव है। लोगों को सारे भ्रम छोड़कर राम का भजन करने की प्रेरणा देते हुए कबीर कहते हैं कि यह राम अर्थात् वह निर्गुण ईश्वर ही सत्य है। लोग झूठे अर्थात् क्षणिक सुख के कारण इस संसार में

अनेक प्रपंच रचते हैं, जो अनुचित है। वे गोविन्द का जाप कर उसे हृदय में धारण करने पर बल देते हैं।[८]

कबीर ने सम्पूर्ण सांसारिक कष्टों के निवारण का निमित्त राम को ही माना हैं। वही मुक्ति का एकमात्र कारण है। कबीर का मानना था कि निर्मलता के साथ जो भी जन राम का भजन करते हैं अथवा राम का गुणगान करते हैं, वे मुझे बहुत पसन्द हैं। मैं ऐसे लोगों की बलिहारी जाता हूँ। जिनके हृदय में राम का वास है, मैं उनके चरणों की धूल हूँ। यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कबीर तुलसी की उक्ति 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोाहि कपट छल छिद्र न भावा।।' तथा 'जाके प्रिय न राम बैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही।।' का समर्थन करते हैं। यद्यपि तुलसी कबीर के बाद के कवि हैं।

निरमल निरमल राम गुण गावै, सो भगता मेरे मनि भावै।।टेक।।
जो जन लेहिं राम नांउं, ताकी मैं बलिहारी जांउं।।
जिहि घटि राम रहे भरपूरि, ताकि मैं चरनन की धूरि।।
जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि हरषि गुण रमैं कबीर।।१२४।।[९]

कबीर का ईश्वर पर अटूट विश्वास था। जिसकी ईश्वर पर सच्ची श्रद्धा होती है, जो ईश्वर को समर्पण से भजता है, उसके कर्मों में भी शुचिता होती है। कबीर को अपने कर्मों की शुचिता पर विश्वास था। इसलिए कबीर ने उस अन्धविश्वास अथवा रूढ़ि को मिथ्या करने का प्रयास किया कि काशी में मृत्यु प्राप्त करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कबीर समाज में जो उपदेश देते थे, उन्हें स्वयं पर लागू करना चाहते थे। इसलिए वे देह त्यागने के लिए जानबूझकर मगहर गये थे, क्योंकि समाज में धारणा थी कि मगहर में मृत्यु होने से नरक की प्राप्ति होती है। देखा जाए तो कबीर के कर्म में उनके नाम के अनुरूप महानता थी।

कबीर ने अहंकार को मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा शत्रु माना है और प्रेम के ढाई आखर जानने वाले को उन्होंने विद्वान् यानी पण्डित की संज्ञा दी है स्वाभाविक है कि उनकी वर्ण–व्यवस्था जाति आधारित नहीं है, कर्म और स्वभाव आधारित है। 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि' कहने वाले कबीर मानते थे कि यदि ईश्वर को प्राप्त करना है तो पहले हमें अहंकार को नष्ट करना होगा–

कबीर आपा मेट्यां हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहांणी प्रेम की, कह्यां न की पत्याइ।।१०।।[१०]

कबीर ने रूढ़ि, अन्धविश्वास, थोथी परम्पराओं इत्यादि पर हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों को कोसा है। 'हिन्दू मुए राम कहि मुसलमान खुदाई' के माध्यम से कबीर ने कहा कि हिन्दू ने उस ईश्वर का नाम राम रखा हुआ है और मुसलमानों ने खुदा। वह एक ही है, परन्तु दोनों धर्मों के लोग ईश्वर के नाम पर विवाद करते हैं। मूर्ति पूजा के विरोधी हे कबीर सनातनियों की इस पूजा पद्धति की व्यंग्यात्मक आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि पत्थर की पूजा करने से भगवान की प्राप्ति होती है तो मैं पहाड़ की पूजा करूँगा ('पाहन पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूँ पहार')। अर्थात् निर्जीव वस्तु को पूजने से ईश्वर नहीं

मिलने वाले, जब तक आपके कर्म सही नहीं हों और आप हरि का नाम नहीं लेते हों। 'कांकर पाथर जोरि करि, मस्जिद लई चुनाय, ता पर मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय' के माध्यम से कबीर ने मुसलमानों के नमाज पढ़ने या अजान पर व्यंग्य किया है कि खुदा कोई बहरा नहीं, जो उस तक अपनी बात पहुँचाने के लिए ऊँची आवाज में कहना पड़े। कबीर का ईश्वर आडम्बरों से आकर्षित नहीं होता है। उसे प्रपंच पसन्द नहीं। सद्कर्म करते हुए सच्चे मन से कोई उसका भजन, स्मरण अथवा ध्यान करता है तो वह सहजता से सुलभ हो जाता है। सच्ची भक्ति से ईश्वर अवश्य प्राप्त होते हैं। और भक्ति क्या है? वह है–भगवान का भजन और नाम स्मरण। अन्य समस्त कार्य अपार दुःख है। भक्ति तभी सफल होगी, जब वह मन, वचन और कर्म से की गयी हो। उसमें समर्पण हो। कबीर ने अपने अनुभव और शोध के आधार पर ईश्वर के स्मरण को ही सार और बाकी कार्यों को जंजाल बताया है। अर्थात् कवि ने ईश्वर की प्राप्ति के लिए मन और आत्मा की शुद्धता और पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया है। साथ ही वचन और कर्म में भी पवित्रता आवश्यक है–

भगति भजन हरि नांउं है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमणां, कबीर सुमिरण सार।।४।।
कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल।।५।।[११]

सनातनी धर्म-दर्शन में मनुष्य जन्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति बताया गया है और कबीर इस पर सहमत हैं। भले ही उनमें ईश्वर का स्वरूप अलग है, परन्तु कबीर ईश्वर का नाम लिए बिना इस संसार में जीवन यापन करने वाले को धिक्कारते हैं।१ कबीर का दर्शन यहाँ पर सनातनी परम्परा से साम्य रखता है। उनका विचार है कि जब राम का ही नाम नहीं लिया तो इस दुनिया में आकर क्या किया? तुलसीदास भी 'बड़े भाग मानुष तनु पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा' के माध्यम से कहते हैं कि बड़े भाग्य से ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है, यह बात शास्त्र भी कहते हैं। कबीर, तुलसी की इस बात से भी सहमति रखते हैं, इसलिए उनके मन में अपने राम से मिलने की छटपटाहट और अकुलाहट रहती है। राम के पन्थ को निहारते-निहारते उनकी आँखों में झाईं पड़ जाती है और 'राम' पुकारते-पुकारते उनकी जीभ पर छाले पड़ जाते हैं। इस पर व्यथित होने के बाद वे आर्त्तनाद करते हैं कि हे ईश्वर! अब तो इस जीव पर दया करो। अब दो में से एक काम करो–या तो इस बिरह व्याकुल जीव को मृत्यु दे दो या फिर दर्शन दे दो। कबीर को अपने राम के होने और उनके द्वारा दर्शन देकर जीव का उद्धार किये जाने पर पूर्ण विश्वास है। वे मनुष्य जीवन के उद्धार के लिए राम नाम का स्मरण और जप करना अनिवार्य मानते हैं। यहाँ पर वे फिर तुलसी की 'जाके प्रिय न राम बैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही' (जिन्हें सीता और राम से प्रेम नहीं हो, उन्हें करोड़ों शत्रुओं की तरह त्याग देना चाहिए, भले ही वे हमारे परम स्नेही ही क्यों न हों) की बात पर भी सहमति व्यक्त करते हैं। इस संसार में आकर और मनुष्य जीवन प्राप्त कर जो स्त्री-पुरुष राम का नाम नहीं लेते हैं, उन्हें कबीर लानत देते

हैं। कबीर का मानना है कि जिस प्रकार वैभव और राजरूपी ठाठ के बिना राजपुत्र अथवा राजपूत का कोई महत्त्व नहीं, उसी प्रकार बिना ज्ञान का योगी किस काम का? सद्गुरु के बिना शिष्य ज्ञान लाभ वैसे ही नहीं कर सकता, जैसे वेश्या-पुत्र को 'अमुक का पुत्र' कहलाने का सौभाग्य नहीं मिल पाता। शुकदेव आदि प्रतिष्ठित मुनिगण कहते हैं कि बिना गुरु के और प्रभु-भक्ति के मनुष्य वैसे ही है जैसे कुमारी कन्या बिना पति के व्यर्थ ही शृंगार करती है–

राम बिनां धिग धिग नर नारी, कहा तैं आई कियौं संसारी।।टेक।।
रज बिनां कैसौ रजपूत, ग्यांन बिना फोकट अवधूत।
गनिका कौ पूत पिता कासौं कहै, गुर बिन चेला ग्यान न लहै।।
कवारी कन्या करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार।
कहै कबीर हूँ कहता डरूँ, सुषदेव कहै तौ मैं क्या करौ।।२६।।[१२]

ईश्वर के प्रति कबीर का समर्पण ईश्वर प्राप्ति में फलदायक ही नहीं, अपितु यह समाज-सुधार की दिशा में भी सहायक है। उचित कर्म करने वाला व्यक्ति कभी समाज में अनुचित करने की सोच ही नहीं सकता। वस्तुतः आज के समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, झूठ, अत्याचार, अन्याय, दुराचार के लिए मनुष्य की नाना प्रकार की आकांक्षाएँ, प्रेरणाएँ और मनोदशाएँ जिम्मेदार हैं। हमारे समाज के लोग पढ़-लिखकर बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हासिल कर रहे हैं, लेकिन उस पढ़ाई में ज्ञान का सर्वथा अभाव है। उस विद्या अध्ययन में 'सा विद्या या विमुक्तये' का सिद्धान्त विलुप्त है। आज के समाज के अधिसंख्य लोगों को धन, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि चाहिए। इसलिए अपराधों का ग्राफ दिनोंदिन बढ़ रहा है।

यदि कबीर की ईश्वर भक्ति के मन, वचन, कर्म की शुचिता वाले सिद्धान्त का पालन किया जाये, तो समाज सुधार होना स्वाभाविक है। आज के जीवन में तनाव का मुख्य कारण अत्यधिक भोग-विलास और लालसा होना है। मनुष्य को जब यह प्राप्त नहीं हो पता है तो वह अवसाद और निराशा जैसे मनोरोगों का शिकार हो जाता है और इससे उसकी आर्थिकी ही दुष्प्रभावित नहीं होती, परिवार का ताना-बाना भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसलिए संतोष के परम भाव को अंगीकार करने की प्रेरणा देते हुए कबीर ईश्वर से कहते हैं कि मुझे अधिक नहीं चाहिए, केवल इतना दीजिए, जिससे मेरे परिवार का गुजारा हो जाए और मेरे दर पर आने वाला साधु भी भोजन कर जाय।कबीर अपने निराकार ईश्वर से आवश्यकता से अधिक इसलिए नहीं माँगना चाहते हैं, क्योंकि कबीर को पता है कि यह जीवन तो क्षणभंगुर है। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को मानने वाले कबीर की दृष्टि में यह शरीर तो मिट्टी के घड़े की तरह नाजुक है। उसके अन्दर जो आत्मा है, वही सत्य और नित्य है। प्राणी की मृत्यु के बाद आत्मा परमात्मा में इसी प्रकार विलय हो जाती है, जैसे पानी का घड़ा फूटने पर पानी, पानी में ही मिल जाता है। इस दुनिया में सभी का अन्त एक जैसा होना है। सभी ईश्वर के अंश मात्र हैं। आत्मा भी परमात्मा का ही अंश है। कबीर के राम सर्वव्याप्त हैं। वे सृष्टि के हर प्रणी, हर वस्तु में विराजमान हैं। वह ईश्वर संसार के सभी प्राणियों में व्याप्त है, भले ही उनके चेहरे भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। कबीर एक

ईश्वर में विश्वास करते हुए कहते हैं, जो भगवान को अलग-अलग बताते हैं और उसकी वास्तविक स्थिति नहीं पहचान पाते, उनके लिए यहाँ नरक जैसी स्थिति है। इस सृष्टि में हवा और पानी एक ही हैं, सभी मनुष्य एक ही मिट्टी से बने हुए हैं। सर्वत्र और सभी में वह ईश्वर ज्योति स्वरूप व्याप्त है–

हम तौ एक एक करि जानां।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग जिन नाहिन पहिचानां।
एकै पवन एक ही पानी एकै जाति समानां।
एकै खाक गढ़े सब भांड़ै एकैं कोंहरा सांनां।।[१३]

सामाजिक भेदभाव और शोषण के विरुद्ध आग उगलते कबीर के दोहे समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना करने में सहायक सिद्ध होते हैं। आज देश-दुनिया में जाति और धर्म के नाम पर भेदभाव और रक्तपात हो रहा है। पूरा समाज यहाँ दक्षिण और वामपंथ दोा खण्डों में विभाजित है। एक धारा के विचारों को विरोधी धारा के विचार अखरते हैं और विवादोां का कारण बनते हैं, लेकिन देखा जाए तो कबीर इन दोनों धाराओं के मध्य की सोच रखते थे और इसका सन्देश देते थे। वे हिन्दू-मुस्लिमों के मध्य तटस्थ रहकर मानव धर्म के प्रणेता के रूप में सामने आये।

कबीर के राम सर्वकल्याणकारी हैं। वे सभी के स्वामी हैं। शर्त एक है कि राम को प्राप्त करने के लिए विशेष योग्यता होनी चाहिए। उसके लिए कन्दराओं में तपस्या करने की आवश्यकता नहीं। कहीं यात्रा पर जाने की आवश्यकता नहीं। उपवास भी नहीं करना है, केवल अपन चरित्र और स्वभाव में परिवर्तन करना है, भजन करना और राम का स्मरण करना है। इस गहन आस्था और समर्पण के बाद राम की प्राप्ति हो जाती है, यही भवसागर पार होने का एकमात्र मार्ग है। कबीर के अनुसार इस शरीर में कष्टों का ताप है। इसका निवारण राम ही कर सकते हैं। कबीर ने अपने राम को गोविन्द और हरि नामों से भी पुकारा है। वह हरि हमारी आपातकालीन सम्पत्ति हैं। जब हमारा कोई नहीं होता है, तब हरि ही एक सहारा होता है–

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भज भाई।
जा दिन तेरो कोई नांही, ता दिन राम सहाई।।टेक-१२२।।[१४]

कबीर का ईश्वर अमूर्त होते हुए भी यह निर्गुण सन्त उनके साथ नाना प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना करता है। कबीर कभी राम को दूल्हा और स्वयं को दुलहन मानकर राम से विवाह करने की कल्पना करते हैं तो कभी राम को पति मान बैठते हैं। यह कबीर की अपने आराध्य के प्रति घनीभूत भक्ति का प्रतिबिम्बन कहा जा सकता है। कबीर अपने हरि को माँ के रूप में मानते हुए कहते हैं कि मै तेरा पुत्र हूँ। याचक की मुद्रा में कहते हैं कि यदि मुझसे कोई गलती हो गयी तो क्षमा कर देना, क्योंकि माता अपने बालक के अनेक अपराधों को यूँ ही क्षमा कर देती है। बालक की शरारतें माँ के हृदय में पानी के बुलबुले की तरह होते हैं, जो उसी समय फूटकर अस्तित्वविहीन हो जाते हैं–

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न अवगुण बकसहु मेरा।।टेक।।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते।
कर गहि केस करे जौ घाता, तेऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी।।१११।।[१५]

कबीर के निर्गण राम का रहस्य हर किसी को पता नहीं। केवल उनके भक्त ही उस रहस्य को जानते हैं। कबीर के लिए यह रहस्य है कि राम उन्हें इस भवसागर से तारकर आखिर कहाँ ले जाएँगे? फिर भी वे राम से कहते हैं कि मैं आपकी महिमा का गान मन ही मन कर लेता हूँ। कबीर का मन राम में रमा है, परन्तु उनसे प्रश्न भी करता है। अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में कबीर के मन में जिज्ञासा है। यह स्वाभाविक भी है। जिस चीज के प्रति हमारी प्रबल इच्छा होती है, हम उसे जानने का भी प्रयत्न करते हैं। कबीर राम भक्ति की प्रेरणा देते हुए राम नाम का जप करने को कहते हैं, साथ ही यह भी जोड़ते हैं कि उस अगम्य ईश्वर के विषय में किसी को भी कोई जानकारी नहीं है। यहाँ तक कि चारों वेद, समस्त स्मृति एवं पुराण तथा नव व्याकरण भी इस निर्गुण ब्रह्म का रहस्य नहीं जान पाये। शेषनाग को जिसका वाहन गरुड़ चट कर जाता है उस प्रभु के रहस्य को उनके चरण कमलों में रहने वाली लक्ष्मी नहीं जान पाती। परम प्रभु के रहस्य को कोई नहीं जान पाया, किन्तु प्रभु–भक्त उनके रहस्य को पहचानकर उन्हीं की शरण में रहते हैं–

निरगुण रांम निरगुंण रांम जपहु रै भाई,
अबिगत की गति लखी न जाइ।।टेक।।
चारि बेद जाकै सुमृत पुरांनां, नौ व्याकरणां मरन न जाना।
सेस नाग जाकैं, गरुड़ समांनां, चरण कंवल कवला नहीं जांना।।
कहै कबीर जाकैं भेदैं नांहीं, निज जन बैठे हरि की छाही।।४९।।[१६]

सारांशतः कहा जा सकता है कि कबीर का एक ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त समाज में सौहार्द उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुआ है। उनके राम निर्गुण, निराकार, रूपहीन, गन्धहीन, स्पर्शहीन होते हुए भी सर्वव्यापी हैं। कबीर ने न केवल ईश्वर के सम्बन्ध में पूरी स्पष्टता और गम्भीरता के साथ अपने विचार रखे हैं, अपितु इस सम्बन्ध में व्याप्त अनेक भ्रमों को दूर करने का भी प्रयास किया है। कबीर ने एकेश्वर की धारणा के आधार पर समाज में शान्ति, सद्भाव और एकता स्थापित करने का भी प्रयास किया है। यह सिद्धान्त समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना में प्रेरणा का कार्य करता है। संसार को क्षणभंगुर और 'कुछ दिन का ठिकाना' मानने वाली इस धारणा से व्यक्ति के मन में ऐष्णाओं के लिए स्थान नहीं बच पाता है। समाज में भेदभाव की समाप्ति और समानता की स्थापना होने में सहायता मिलती है। वस्तुतः कबीर का यह सिद्धान्त आज के दौर में परम आवश्यक है। सामाजिक सद्भाव, आपसी प्रेम और मानवता का पाठ पढ़ाने वाली कबीर की यह धारणा समाज में व्याप्त बैर भाव, शत्रुता, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और आतंकवाद के उन्मूलन में सहायक सिद्ध हो सकती है। कबीर के इस सन्देश को

मन, वचन और कर्म में धारण करने के उपरान्त आज का मनुष्य मानवीय प्रेम का उपासक बन सकता है। इसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, आडम्बर, असहिष्णुता, स्तेय, ईर्ष्या, दुराग्रह और दुराचार जैसी बुराइयों से दूर रहा जा सकता है। जिस दिन सभी मनुष्य यह समझ जायेंगे कि मन, कर्म, वचन, आत्मा की शुचिता और शुद्धता से हमें ईश्वर आसानी से मिल सकते हैं और इसके बाद हमें मुक्ति मिल सकती है तो दुनिया की अधिकांश समस्याएँ और विवाद स्वतः ही दूर हो जायेंगे। कबीर वस्तुतः एक कवि और सन्त ही नहीं, अपितु युगद्रष्टा और दार्शनिक भी थे। तत्कालीन परिस्थितियों और सामाजिक विद्रूपताओं के दृष्टिगत कबीर ने एक आदर्श समाज की संकल्पना ही नहीं की, उसके लिए प्रयास भी किये थे।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. कबीर ग्रन्थावली–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १७
२. कबीर ग्रन्थावली–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १७
३. कबीर ग्रन्थावली–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १९
४. कबीर ग्रन्थावली–सं० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास–डॉ० नगेन्द्र, डॉ० हरदयाल, पृ० ११९
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६३
७. राष्ट्रीय, भाग-१ (राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली) सम्पादक मण्डल–शिशिर कुमार पाण्डेय, रमेश कुमार, कमलानन्द झा, उमाकान्त, रेखा पाण्डेय, पृ० ६
८. मीरायन, वर्ष-१६, अंक-२ (पूर्णांक-६२), जून-अगस्त २०२२, पृ० १६, (डॉ० दर्मियान सिंह भण्डारी, 'कबीर का एकेश्वरवाद')।
९. कबीर ग्रन्थावली–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १४७
१०. कबीर ग्रन्थावली–सं० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १०९
११. कबीर ग्रन्थावली–सं० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ७
१२. कबीर ग्रन्थावली–डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ० ३६४
१३. आरोह, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (उत्तराखण्ड), पृ० १३१
१४. कबीर ग्रन्थावली–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १४७
१५. कबीर ग्रन्थावली–सं० डॉ० श्यामसुन्दर दास, पृ० १४५
१६. कबीर ग्रन्थावली–डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ० ३२६

–असिस्टेंट प्रोफेसर
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर,
देवप्रयाग (उत्तराखण्ड)

संकटों से जूझते किसान की तरुण कथा : 'तेरा संगी कोई नहीं'

–डॉ० नवीन नंदवाना

भारत देश कृषि प्रधान देश है। यहाँ की अधिकांश आबादी गाँवों में निवास करती है और यह ग्रामीण आबादी मुख्यतः कृषि पर निर्भर है। कृषि के साथ-साथ पशुपालन इनका दूसरा प्रमुख कार्य है। कृषि कार्य करने वाले इन किसानों का जीवन खेती की कठिनाइयों और आर्थिक संघर्षों से जूझते हुए निकल जाता है। हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद भी भारतीय किसान संघर्ष एवं कठिनाइयों भरा जीवन जीने को मजबूर है। हमारी सरकारों ने समय-समय पर किसानों के हित को ध्यान में रखते हुए कृषि एवं कृषक कल्याण की योजनाएँ बनायी हैं। इन योजनाओं का लाभ इन तक पहुँचा भी है, किन्तु हर एक किसान तक इनका उचित लाभ पहुँचा हो, यह कहना भी कठिन है।

किसान जीवन को लेकर साहित्यकार सदैव जागरूक रहे हैं। मुंशी प्रेमचन्द द्वारा रचित 'गोदान' तो कृषक जीवन का महाकाव्य कहलाता ही है। 'गोदान' के माध्यम से मुंशी प्रेमचन्द ने न केवल होरी और उसके परिवार का बल्कि सम्पूर्ण भारतीय कृषक जीवन के यथार्थ को उद्घाटित किया है। आज भी किसान जीवन से जुड़ी रचनाओं का स्मरण करते ही सर्वप्रथम सुधी पाठकों के ध्यान में 'गोदान' उपन्यास ही आता है। 'गोदान' के बाद भी किसान जीवन से जुड़े कई उपन्यास प्रकाशित हुए जिनमें 'लोहे पंख', 'सोना माटी', 'लाल पीली जमीन', 'जमीन अपनी तो थी', 'गाँव भीतर गाँव', 'फाँस' और 'अकाल में उत्सव' आदि प्रमुख हैं। कई उपन्यासकारों और कहानीकारों ने कृषक जीवन के आधार बनाकर अपनी कलम चलाई है। ऐसे ही उपन्यासकारों में एक चर्चित नाम मिथिलेश्वर का भी है। उनका उपन्यास 'तेरा संगी कोई नहीं' कृषक जीवन के यथार्थ को उद्घाटित करने की दिशा में एक उल्लेखनीय उपन्यास है।

'तेरा संगी कोई नहीं' उपन्यास के माध्यम से रचनाकार ने कृषि और कृषक जीवन की विविध समस्याओं को वाणी प्रदान की है। सम्पूर्ण कथा प्रमुख रूप से बलिहारी गाँव, बलेसर नामक किसान और उसके खेत बत्तीस बिगहवा को केन्द्र में रखकर रचित है। यह उपन्यास किसान जीवन के आर्थिक संघर्ष, पारिवारिक संघर्ष, शोषण, दहेज की समस्या, किसानों के परस्पर ईर्ष्या एवं तनाव, नई पीढ़ी के वैचारिक संघर्ष और कृषि जीवन की विविध समस्याओं के यथार्थ को वाणी प्रदान करता है। राजकिशन नैन 'किसानों की टीस का जीवन्त चित्रण' शीर्षक से समीक्षा करते हुए दैनिक ट्रिब्यून में लिखते हैं कि– "वरिष्ठ साहित्यकार मिथिलेश्वर ने अपने उपन्यास 'तेरा संगी कोई नहीं' में खेतीबाड़ी के सहारे पेट पाल रहे किल्लत और कमनसीवी के मारे बेकस व बेकसूर किसानों तथा गरजमन्द मजदूरों की अनवरत

उपेक्षा एवं उनके रसातल में धँसते जाने के कारणों की बारीकी से पड़ताल की है। यह उम्दा उपन्यास झंझट में फँसे किसानी जीवन, खेतिहर समाज और कृषि-कर्म से जुड़ी विकट समस्याओं का जीता-जागता विश्लेषण पेश करता है।"[१]

उपन्यास आधुनिक पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष और वैचारिक अन्तर को उद्घाटित करता है। "खेती अब घाटे का सौदा हो गई है पिता जी। खेती से जुड़े रहने में अब कोई लाभ नहीं। खेती में जितना श्रम, संघर्ष और खर्च है, उसकी तुलना में उपार्जन नगण्य, उल्टे खेती की परेशानियों से जीवन का सुख-चैन भी गायब, निरन्तर असुरक्षा और आतंक के माहौल में रहना। हमें समय रहते खेतों को बेचकर अपनी पूँजी शहर में स्थानान्तरित कर लेनी चाहिए। अभी खेतों के खरीददार हैं भी। समय जिस तेजी से बदल रहा है आगे के दिनों में खेतों के खरीददार भी नहीं मिलेंगे....।"[२] पुत्र कुलराखन के ये विचार आदि के अन्त तक किसानी में विश्वास रखने वाले बलेसर को परेशान करते रहते हैं। कुलराखन आधुनिक युवा पीढ़ी क प्रतिनिधि है। वह चाहता है कि उसके पिता बलेसर परम्परागत खेती की जमीन 'बत्तीस बिगहवा' को बेचकर उस पैसे से शहर में जमीन खरीद ले और उस पर मकान बनाकर गाँव से शहर में बस जाए। उस घर में कुछ अतिरिक्त कमरे बना लिए जायँ जिससे होने वाली आय इस खेती की आय से अधिक होगी और वह भी बिना किसी परिश्रम और चिन्ता के। इस पर बलेसर सदैव अपने बेटों के विरोध में रहता है। वह पुरखों की जमीन तथा कृषि कार्य दोनों से जुड़ा रहना चाहता है। खेती में कामों में बलेसर की मदद करने वाला कूदन भी जब बलेसर से ये ही कहता है कि आखिर तो बच्चों को ही सँभालना है, उसे उनके मन का करने दीजिए, किन्तु बलेसर अपनी पुश्तैनी जमीन के प्रति अपना प्रेम और निष्ठा प्रदर्शित करता है।

कुलराखन और साथ में दोनों भाई परम्परागत खेती के विरोध में रहते हैं। वे शहर में पढ़े और नौकरी करने वाले हैं। अतः गाँव का जीवन और खेती से मुँह मोड़ रहे हैं। बेटश कुलराखन खेतों को बेचकर उस पैसे से शहर में जमीन खरीदने का पक्षधर रहा। वहीं बलेसर अपनी खेती और जमीन को महत्ता देते हुए उसे बचाए रखने का पक्षधर रहा। कुलराखन अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करता है- "कृषि कार्य तो अब घाटे और कष्ट का सबब बन गया है। जैसा कि माँ बताती है और होश सँभालने के बाद मैं स्वयं देखते आ रहा हूँ, इस खेती से उबरने की अपेक्षा हम अधिक परेशान ही होते रहे हैं। खा-पीकर बच्चों को पढ़ाने-लिखाने भर कुछ बचा लेने में ही हमारा सारा उपार्जन सिमट जाता है। जब सुरभि दीदी की शादी में दहेज की जरूरत पड़ी तो कहाँ थे आपके पास रुपये? अन्ततः तीन बीघे खेत रेहन (गिरवी) रखने पड़े। चार साल बीत गये, लेकिन रेहन से उन खेतों को हम कहाँ मुक्त करा सके?" इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किसान अपने खेतों से जरूरत भर का कमा सकता है। वह अपनी अतिरिक्त जरूरतों का समाधान उन खेतों और खेती से कर सके ऐसा सम्भव नहीं हो पाता है। उसे इसके लिए ऋण और जमीन रहेन रखने का सहारा लेना पड़ता है। शायद इन्हीं कारणों से आज की पीढ़ी का परम्परागत खेती से मोहभंग होता जा रहा है।

अपना मत बताते हुए तीनों बेटे खेती के विरोध में बोलते हैं। मझला बेटा मनराखन भी बड़े भाई कुलराखन की बात में अपनी सहमति देते हुए अपने मित्रों के उदाहरण से अपनी बात पुष्ट करता है। कहता है कि उसके दोस्तों के परिवार ने जमीन बेचकर शहर में दवा की दुकान लगाई और आज वे बहुत कमा रहे हैं। सबसे छोटे बेटे ने भी दोनों भाइयों के साथ अपना मत दिया। इस प्रकार तीनों बेटे बलेसर को अपनी जमीन बेच शहर में बसने के लिए प्रोत्साहित करते हैं किन्तु बलेसर अपने पूर्वजों की जमीन नहीं बेचना चाहता। वह कहता है–"तुम लोग जिस खेती को परेशानी और घाटे का करोबार समझ रहे हो, यह तुम लोगों की नासमझी और भूल है। इसी खेती को परेशानी और घाटे का कारोबार समझ रहे हो, यह तुम लोगों की नासमझी और भूल है। इसी खेती की आय से पल-बढ़कर आज तुम तीनों बड़े हुए और शहरिया बने हो।..... खेत-बधार पुश्त-दर-पुश्त चलने वाला जीविका का साधन होता है। शहर में कमाने-खाने वालों की हैसियत खेत खरीदने की कमी नहीं हो सकती। जिस सचिवालय में तुम नौकरी कर रहे हो, रिटायर होते ही वह सचिवालय तुम्हें बाहर करदेगा। लेकिन अपनी खेती-गृहस्थी के मालिक किसान को रिटायरमेण्ट केनाम पर उसकी जमीन से अलग नहीं कर सकता। ...एक बात और समझ लो, शहर का कोई कार्यालय, कोई कल-कारखाना अनाज नहीं पैदा कर सकता, जिसे खाकर पूरी दुनिया जीवित रहती है। इसका मतलब यह कि शहर का जीवन भी किसानों पर भी निर्भर है।"[४] बलेसर खेती के संघर्ष और परेशानियों को स्वीकारते हुए भी अपनी जमीन और खेती छोड़ने के पक्ष में नहीं आता है।

एक साथ कई मोर्चों पर लड़ता है देश का किसान, लेकिन इसकी संगी कोई नहीं। लोकमत, १३ मई, २०२१ में हुई उपन्यास की समीक्षा में वर्णित है कि–"मिथिलेश्वर ने 'तेरा कोई संगी नहीं' उपन्यास में किसानों की समस्याओं का राई-रक्त पेश किया है।.... आखिर क्या कारण है कि एक किसान का बेटा किसान नहीं बनना चाहता? यह उपन्यास इस सवाल काभी जवाब देता है।"[५] खेती करते किसानों के जीवन में परस्पर संघर्ष, मनमुटाव और लड़ाई-झगड़े चलते रहते हैं। ये संघर्ष जब बढ़ जाते हैं तो खूनी खेल तक पहुँच जाते हैं। उपन्यासकार की नजर से ये मुद्दे भी बच नहीं पाए। इस उपन्यास में इस प्रकार के संघर्षों और परस्पर विवाद के चलते एक-दूसरे का नुकसान करने की वृत्ति को भी उपन्यासकार की पैनी नजर ने उकेरा है। उपन्यास के आरम्भ में ही नहर के पानी के वितरण को लेकर हो रहे आपसी संघर्ष को उपन्यासकार ने वर्णित किया है। बलेसर जैसे कई किसानों ने पानी को लेकर आत्मनिर्भर होने का सोचना प्रारम्भ किया, जिससे कि इस प्रकार के संघर्ष और खूनी खेल से बच सके। किन्तु खेती से होने वाली सीमित आय और सामाजिक-पारिवारिक खर्च निकलने के बाद बहुत कम बच पाता था। अतः तुरन्त नया विकल्प बना लेना सभी के लिए सम्भव न था। मोट से रहट, रहट से पम्पिंग सेट और पम्पिंग सेट से बोरिंग तक आते-आते कई किसान बूढ़े होने को आ गए थे।

बालद सिंह की नाराजगी बलेसर के लिए भारी बड़ती है। वह चुपके से बलेसर के खेत की तैयार फसल में आग लगवा देता है। बदला लेने की भावना में वह दूसरे किसान भाई के नुकसान का कुछ भी

नहीं सोचता। अन्य किसान साथियों की मदद से आग पर नियन्त्रण हो पाता है फिर भी काफी नुकसान हो चुका होता है। इस प्रकार ग्रामीण किसानी जीवन में भी इस प्रकार की दबंगई की घटनाएँ द्रष्टव्य होती हैं।

बदलती सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने किसानों के मददगार खेतीहर मजदूरों की भी कमी कर दी। गाँवों में एक समय ऐसा था जब किसानों को अपनी फसल बोने और काटने आदि के समय खेतीहर मजदूर आसानी से मिल जाते थे। उनके सहयोग से किसान अपनी खेती का काम सहजता से सम्पन्न कर देते थे, किन्तु धीरे-धीरे गाँव से शहरों की ओर पलायन तथा अन्यान्य कारणों से गाँवों में खेतीहर मजदूरों का अभाव होने लगा। किसानों पर इसका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पड़ा है। इन परिस्थितियों ने किसानों व खेतीहर मजदूरों दोनों को प्रभावित किया। उपन्यास के प्रमुख पात्र बलेसर ने इस पीड़ा को अपने शब्दों में इस प्रकार अभिवयक्त किया है–"जहाँ एक ओर किसानों की खेती कमजोर हुई है, कृषि-व्यवस्था की बुनियाद डगमगायी है, वहीं जीविका के अपनेपरम्परित स्रोत से अलग बनिहार, चरवाह और खेत-मजदूर गाँव से शहर तक अपना पेशा बदलते तथा गाँवों से पलायन करते रहे हैं। इस परिस्थितियों में न किसान सुखी हुए और न उन मजदूरों की स्थिति बदली।"[६] इस प्रकार खेत-मजदूरों के अभाव ने भी खेती को बहुत प्रभावित किया, वही खेत-मजदूरों को पहले अपने ही गाँव में रोजगार मिल जाता था, अब वे रोगजगार के लिए शहर में भटक रहे हैं। उन्हें शहरी जीवन की विभिन्न समस्याओं से भी दो-चार होना पड़ा रहा है।

उपन्यास में हमें शिक्षा को लेकर दो पीढ़ियों के भिन्न-भिन्न विचार द्रष्टव्य होते हैं। बलेसर का मानना है कि वह बत्तीस बिगहा का मालिक है और इसलिए उसके बेटों को नौकरी के लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है। गाँव और आसपास जितने स्तर के स्कूल हैं, वहीं तक की पढ़ाई कर ले, इतना बहुत है। दूसरों की चाकरी करने की अपेक्षा खुद की खेती को बलेसर दम्पत्ति अच्छी मानते हैं। वे अपने बेटो को 'उत्तम खेती, मध्यम बान, अधम चाकरी, भीख निदान' की उक्ति के सहारे खेती का महत्त्व समझाते हैं किन्तु शहर में जाकर अध्ययन करने वाला कुलराखन अपनी मेहनत के बल पर सचिवालय में सहायक के पद पर चयनित हो जाता है किन्तु बलेसर को उसकी नौकरी करना उचित नहीं लगता। वह उसे खेती की महत्ता और नौकरी की कमी बताते हुए कहता है कि–"ऐसी नौकरी में जाकर क्या करोगे बेटा? यह तुम्हारी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है....। तुम्हें क्लर्क की नाकरी शोभा नहीं देगी...। तुम्हारे ऊपर का हर अधिकारी तुम्हें आदेश देगा। यहाँ के तुम एक अच्छे खेतीहर हो। तुम्हारे पुरखों द्वारा कायम यह सदाबहार खेती है। इस खेती से हम खा-पी रहे और मनलायक जीवन जी रहे। यहाँ सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी इस खेती में हम स्वतन्त्र हैं, किसी के गुलाम नहीं। लेकिन चाकरी तो गुलामी ही है वहाँ अधिकारियों के आदेश पर तुम्हारा जीवन परतन्त्र बना रहेगा...।"[७] इस प्रकार बलेसर परम्परागत किसानी में विश्वास रखने वाला है और चाहता है कि उसका बेटा भी उसी से जुड़ा रहे। किन्तु दो पीढ़ियों के वैचारिक संघर्ष को हम यहाँ बड़ी स्पष्टता से देख सकते हैं। न केवल कुलराखन बल्कि उसी की तर्ज

पर छोटा भाई मनराखन भी चल पड़ता है। वह भी शहर में पढ़कर अच्छी नौकरी हासिल कर अपना भविष्य सुरक्षित करना चाहता है। इस पर बलेसर पुनः विरोध में खड़ा हो, खेती से उसे जोड़ने का पक्षधर रहता है। तीसरा बेटा जगपूरन धीरे-धीरे वह शहरी जीवन से इस कदर प्रभावित होता है कि वह अपनी माँ के सम्मुख शहरी और ग्रामीण जीवन की तुलना कर शहरी जीवन को बेहतर बताता है।

उपन्यास में रचनाकार ने सरकारी योजनाओं, नौकरशाही की कार्य-पद्धति और किसानी संघर्ष को भी भली प्रकार से बताया है। अपने पिता से जमीन और खेती के विषय में बात करते हुए कुलराखन सरकारी नीतियों और कृषि को समझाते हुए कहता है कि–"अब आपके समय वाली सरकारें नहीं हैं पिता जी। प्याज पर सरकार बदलने के कारण राजनीति प्रेरित थे, कृषि का दबाव नहीं। अब तो सरकारों के एजेण्डशे में कृषि कार्य अन्तिम पायदान पर होता है, इसलिए कृषि के समक्ष उत्पन्न संकट और गहराते जा रहे हैं।"[८] वह समझाता है कि आपके समय खेती की बात अलग थी, अब अलग है। आपकी स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता समाप्त होती जा रही है। पहले आप अपनी पैदावार से ही उत्तम बीज आगे की फलस के लिए रख लेते थे, पर अब बीज के लिए आप बाजार और कम्पनियों पर निर्भर हैं।

गाँवों में बिजली की समस्या का भी चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। निहोरा राय के दालान में लालटेनों के टँगी होने का वर्णन कर उपन्यास ने यह दर्शाया है कि गाँव में भले ही बिजली आ गई हो किन्तु उसकी आपूर्ति इतनी बाधित रहती है कि आज भी गाँव लालटेनों से आजाद नहीं हुए हैं। यहाँ हम आजादी के बाद के ग्रामीण विकास के यथार्थ को भी देख सकते हैं। खाद की कालाबाजारी के घटनाक्रमों का भी वर्णन उपन्यास में मिलता है। किसानों की सभा में प्रत्येक किसान अपनी पीड़ा बताने लगता है। इस पर यह चन्द्रदेव का कथन किसानों की दयनीय दशा और कालाबाजारी के दंश दोनों को उद्घाटित करता है।

धान की खरीद के तीन केन्द्रों–फैक्स, व्यापार मण्डल और राज्य खाद्य निगम, के लाभ-हानि का भी वर्णन द्रष्टव्य है। बढ़ती महँगाई, गिरते जलस्तर, सूखते कुओं और कीड़ों से हुए फसलों के नुकासन आदि कारणों से किसानों की आत्महत्या की घटनाएँ भी बढ़ रही हैं। उपन्यास का पात्र, जगतनन्दन अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार देता है–"यदुनाथ भाई, यह तो हम भी देख रहे हैं कि हम किसानों के लिए फैक्स से लेकर विभिन्न क्रय केन्द्र तथा खाद, बीज और डीजल के लिए अनुदान के साथ कृषि विभाग के माध्यम से कृषि संयंत्रों एवं अन्य लाभों के लिए हमें नाकों चने चबाने पड़ते हैं। सरकारी अनुदान तक पहुँचते-पहुँचते हमें पता चलता है कि सरकार द्वारा मिलनेवाली सब्सिडी दौड़-धूप करने और नजराना दिए जाने में ही समाप्त हो गई।"[९] इस प्रकार के कथनों के माध्यम से हम सरकारी कार्यप्रणाली का यथार्थ जान सकते हैं। विविध सरकारी योजनाओं के लाभ के चर्चे भी यहाँ हैं किन्तु किसानों को लगता है कि लापरवाही, कामचोरी और घूसखोरी के कारण इन योजनाओं का वास्तविक और पूरा लाभ किसानों तक नहीं पहुँच पाता है।

किसानी से सिर्फ रोजमर्रा की जरूरत भर का कामाने वाले किसान के जीवन में जब कोई बड़ा

काम आ जाता या अपनी बेटी की शादी जैसा अवसर होता है तो किसान के पास इतने पैसे की बचत नहीं होती कि वह बिना किसी जोड़-तोड़ के उस कार्य को पूरा कर सके। बलेसर के जीवन में भी कुछ ऐसा ही हुआ। बत्तीस बिगवा का मालिक होने के बाद भी उसे अपनी बेटी की शादी के दहेज के लिए अपनी जमीन का एक हिस्सा जयराम सिंह के पास गिरवी रखना पड़ा, जिसे वह बरसों तक नहीं छुड़वा पाया। या यों कहें कि उसकी मृत्यु पर्यन्त वह जयराम सिंह के पास गिरवी ही रहा। यह स्थिति केवल बलेसर की हो ऐसा नहीं है। यह लगभग प्रत्येक भारतीय किसान की स्थिति है। यहाँ भारतीय ग्रामीण जीवन में व्याप्त दहेज जैसी कुप्रथा और किसानी जीवन पर उसके दुष्प्रभाव भी देख सकते हैं। अपनी बेटी सुरभि की शादी पर बलेसरको भी अपने खेत रेहन रखने पड़े। इस पर उसकी पत्नी बलेसर से कहती है कि– "अब और विलम्ब ठीक नहीं। खेतोंको छोड़कर दहेज देने का कोई दूसरा साधन तो हमारे पास है ही नहीं। और फिर हम ही क्या, पूरे गाँव में देख लीजिए, जिसकी बेटी की शादी लगती है, उसे अपनेकुछ खेत हटाने ही पड़ते हैं, चाहे बेचकर या रेहन रखकर।"[१०] बलेसर इस रकम की भरपाई अपने बेटों की शादी में दहेज लेकर करना चाहते हैं किन्तु उसके भाग्य में यह भी नहीं हुआ। उसका एक-एक बेटा शहर में पढ़ाई के लिए जाता रहा और नौकरी लगकर अपने रुचि व पसन्द से शहरी लड़की से विवाह करता रहा। इस प्रकार उसकी मन की बात मन में ही रह गयी। साथ ही हम यहाँ दहेज जैसी कुप्रथा और उसके दुष्परिणाम भी देखते हैं। गाँव के चन्द्रदेव की हालत भी वैसी ही है। वह बलेसर से कहता है कि– "इसकी शादी तय कर दी है बलेसर। तगड़ा दहेज देना पड़ रहा है। लेकिन अच्छा घर-वर मिल गया। उसकी खेती मुझसे भी अच्छी है। अब दहेज के लिए दक्खिनी बधार के दो बीघे खेत मुझे रेहन रखने हैं बिना रेहन रखे काम चल ही नहीं सकता।"[११] इस प्रकार दहेज के दाव और किसानों की माली हालत दोनों को हम इन कथनों से समझ सकते हैं।

गाँव के किसान रविनाथ की घटनाएँ भी शहरीकरण और फलस्वरूप खेती के प्रति घटते जा रहे रुझान को दर्शाती है। गोमती काकी के परिवार की घटना तथा गजेन्द्र के परिवार की घटनाओं के वर्णन भी भारतीय किसान जीवन और ग्रामीण जीवन की झाँकी से रु-ब-रु करवाते हैं। पुजारी जगहरण की घटना यह दर्शाती है कि आज भी भोला-भाला किसान आस्था और विश्वास के नाम पर चतुर लोगों द्वारा ठगा जा रहा है।

उपन्यास के अन्त तक आते-आते स्थितियाँ बदलती हैं। बलेसर भी अब टूटने लगता है फिर भी वह हिम्मत रखकर स्थितियों से दो-चार होने से हार नहीं मानता है। पत्नी की बीमारी पर बलेसर को पुत्रों की सहायता लेनी पड़ती है। बेटे भी अवसर की तलाश में थे। यह अवसर उचित जान तीनों बेटे अपनी माँ और पिता को बार-बार समझाने लगते हैं। वे विविध तरीकों से माँ के हृदय में यह बात बैठाने का प्रयास करते हैं कि उन्हें अब खेती की जमीन बेचकर शहर में घर बना लेना चाहिए। इस प्रकार माँ भी परिस्थितिवश बेटों की बातों में आने लगती है। इस पर बलेसर उसे यथार्थ से अवगत कराते हुए कहते हैं कि–"कुलराखन की माँ, अपनी बीमारी से मुक्त होने के लिए तुम स्वयं प्रयास नहीं करोगी तो दवाओं

से कुछ नहीं होगा। बेटे और बहुओं ने शहर में अपने साथ रहने का जो आकर्षण हमें दिखाया है, वह सब मृग-मरीचिका है। उसे भूल जाओ....। जैसे ही अपनी खेती बेचकर शहर में हम उनके पराश्रित हो जायेंगे, वे हमें पूछेंगे तक नहीं। अभी अपनी जरूरत पर हमारी आवभागत कर रहे हैं। यहाँ अपनी खेती-किसानी में जिस सुख-सन्तोष, स्वाभिमान और स्वतन्त्रता के साथ हम जी रहे हैं, वहाँ हमारा सब-कुछ समाप्त हो जायेगा.....।"[१२] इस प्रकार बलेसर अपनी पत्नी को यथार्थ से अवगत कराने का प्रयास करते हैं। किन्तु परिस्थितियाँ उसके साथ कुछ और ही करती हैं। पत्नी को लकवा हो जाने से अब इलाज लम्बा चलना है और बहू-बेटों के तर्क और समझाने के कार्य बढ़ते जाते हैं। गाँव में फसल काटने गया बलेसर इसी चिन्ता में टूटता जाता है। वह नहीं समझ पाता है कि परिस्थितियों से समझौता कर बेटों की बात माने या फिर अपनी पुश्तैनी खेती को बचाए रखे। अब इसी दुविधा में वह भी बीमार रहने लगता है। एक दिन उसका मृत शरीर बीस बिगहवा के पास पड़ा मिलता है। रचनाकार ने इस प्रकार बलेसर के माध्यम से भारतीय किसान का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। उपन्यास का शीर्षक भी उचित ही लगता है। यहाँ बलेसर का संगी कोई नहीं होता है। न बेटे, न बहुएँ और न ही पत्नी। इस प्रकार वह अकेला संघर्ष करते हुए आखिर में मृत्यु का वरण करता है। अकेले पड़ते किसान की त्रासद गाथा शीर्षक से इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए मदन काशी लिखते हैं कि-"मिथिलेश्वर जी एक सार्थक और रचनात्मक हस्तक्षेप करते हुए किसानों के साथ खड़े होते हैं। उपन्यास के नायक का अन्त दरसल, अन्त नहीं आरम्भ का संकेत देता है, संभलो, नहीं तो देर हो जाएगी। इस 'अन्त' से ही 'आरम्भ' करो।"[१३]

उपन्यास की भाषा और लोकोक्तियों-मुहावरों का प्रयोग भारतीय ग्रामीण जीवन की महक भरता है। 'खेतवा घूमे से किसनवा' जैसे गीत ग्रामीण भाषा के साथ वहाँ की लोक-संस्कृति को प्रदर्शित करते हैं। 'उड़ती चिड़िया में हल्दी लगाना', 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता', 'नेकी भी पूछ-पूछकर', 'ढाक के तीन पात', 'नाकों चने चबाना', 'छान पगहा तुड़ाना', 'मुँह की खाना', 'चट माँगनी पट ब्याह' और 'अपनी हार और मेहरी की मार' जैसी लोकोक्तियों और मुहावरों आदि का प्रयोग कथन में चमत्कार भरने के साथ-साथ ग्रामीण जीवन और वहाँ की संस्कृति की को अभिव्यक्ति देते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह उपन्यास 'तेरा संगी कोई नहीं' बलेसर की कथा के माध्यम से भारतीय किसान जीवन का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करता है। यह बलेसर के माध्यम से केवल एक परिवार या गाँव की कथा मात्र नहीं है बल्कि भारतीय ग्रामीण जीवन और सम्पूर्ण किसानों की व्यथा-कथा बनकर उभरती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. http://www.dainiktribuneonline.com/new/archive/features/किसानों की टीस का जीवन-चित्रण-१११३०९५

२. तेरा संगी कोई नहीं-मिथिलेश्वर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपरबैक, संस्करण २०१८, पृ० १३

३. वही, पृ० १३
३. वही, पृ० २७
५. http://www.lokmatnews.in/blog/india/book-review-tera-koi-sangi-nahi-a-novelbymithileshwar-focus-on-farmers-distress/
६. वही, पृ० १२
७. वही, पृ० १५
८. वही, पृ० २९
९. वही, पृ० ५८
१०. वही, पृ० ३३
११. वही, पृ० ४०
१२. वही, पृ० १४८
१३. http://gajipur.blogspot.com/2019/10/blog-post_41.html

–सह-आचार्य, हिन्दी-विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान) ३१३००१
मो०: ९८२८३५१६१८

कबीर : कालजयी कविताई

–डॉ० विजयलक्ष्मी

कालजयी रचने के लिए प्रखर प्रतिभा चाहिए। कालजयी रचना वही हो सकती है, जिसमें काल के गति की सही पहचान हो। कालजयी का अर्थ है जिसने काल को जीत लिया है। कोई भी रचना कालजयी तभी कहला सकती है, जब उसमें ऐसा सत्य अभिव्यंजित हो, जो काल–विशेष का भी हो और काल की सीमा से परे भी हो, काल जिसका क्षय न कर सके। कालजयी रचनाएँ समय के साथ धूमिल या विस्मृत नहीं होती जातीं, बल्कि इसके विपरीत समय के साथ और अधिक उद्घाटित और प्रकाशित होती जाती हैं। वस्तुतः कालजयी रचनाओं का कथ्य इतना गहरा, संश्लिष्ट और दूरदर्शी होता है कि जिसकी पूर्ण समझ काल विशेष में सम्भव नहीं हो पाती। इसीलिए ये रचनाएँ काल के साथ अक्षय बनी रहती हैं और कालजयी कहलाती हैं। कालजयी रचनात्मकता के इस सन्दर्भ में यदि हम 'कवि' शब्द के शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दें तो निश्चित ही यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि 'कविकर्म अनिवार्यतः कालजयी होता है।'' 'कु' धातु में 'अच', प्रत्यय जोड़कर कवि शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई गयी है। यहाँ 'कु' का अर्थ है 'व्याप्ति', आकाश अर्थात् सर्वज्ञाता। फलतः कवि सर्वज्ञ है, दृष्टा है। श्रुति भी कहती है 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' परिभूः अर्थात् जो अपनी अनुभूति के क्षेत्र में सब कुछ समेट ले और स्वयंभूः जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का भी ऋणी न हो, अर्थात् काव्य उसी मनीषी की सृष्टि है, जे स्वयं सम्पूर्ण और सर्वज्ञ हो।''[१]

उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक शब्द हैं। परिभूः और स्वयंभूः जो है वस्तुतः वही कवि होने योग्य है और ऐसा कवि जो भी रचेगा वह निःसन्देह कालजयी ही होगा।

कालजयी कृतित्व की चर्चा के सन्दर्भ में हिन्दी साहित्याकाश में सूर्य की भाँति, प्रखर प्रतिभा के धनी, कवि शब्द को सार्थक करने वाले कबीर का स्मरण न हो आये यह सम्भव नहीं है। कबीर में जो प्रतिभा थी वह सच्चे अर्थों में स्वयंभू थी। कबीर की कविता, कबीर की अपनी प्रतीति ही है। कभी मसि–कागद न छूने वाले कबीर वास्तव में अपनी अनुभूति के लिए किसी के ऋणी नहीं थे। कागद–लेखी से उनका कोई वास्ता नहीं था। वे अनपढ़ थे सम्भवतः इसीलिए उनके भीतर 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा'' बड़ी प्रखर थी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब कबीर अनुभूति के स्तर पर 'स्वयंभू' हैं तो अभिव्यक्ति के स्तर पर वे ऋणी कैसे हो सकते हैं? उनकी काव्यानुभूति उनकी अपनी है, मौलिक है, उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने का तरीका भी कबीर का अपना है, वे जीवन के शास्त्र पर अपने काव्य से प्रहार

करते हैं और काव्यशास्त्र पर भी। सहजता कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व की सबसे बड़ी शक्ति है। वे कवित्त बनाते नहीं हैं, वे ही कवित्त हैं। अन्तरतम में उठे भावगीत को कबीर ने सहज ही बहने दिया, उसमें अपनी ओर से किसी भी तरह की बाधा न पहुँचायी। फिर उसे कोई बेगढ़ कहे, अनगढ़ कहे, बेमेल कहे, कवित्वशक्ति से हीन कहे, इसकी चिन्ता कबीर को नहीं। उन्होंने तो साफ समझा दिया–

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होई रे।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखे उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन जुगन समुझावत हारा, नहीं मानत कोई रे।२

कबीर प्रकृत भाव के सच्चे कवि हैं। जो सहज सम्भाव्य है, वही उनका काव्य है। 'कवि कबीर की खोज', शीर्षक आलेख में श्री पुरुषोत्तम अग्रवाल जी लिखते हैं "कबीर की कविता एक निश्चित काव्य-परम्परा में प्रतिभा का विशिष्ट विस्फोट है।" और भी "अभिजातवर्गीय काव्यशास्त्र की रूढ़ियों से कबीर सचमुच न वाकिफ हैं न उनके कायल, लेकिन प्रकृत काव्य-परम्परा की रूढ़ियों से वे वाकिफ भी हैं, उनके कायल भी हैं और उनके उत्साही प्रयोक्ता भी। सीमा संस्कृत काव्याास्त्र और उनके अनुकरण पर बने काव्यशास्त्रों की है कि वे प्रकृत काव्य-परम्परा और उनकी रूढ़ियों को विमर्श का विषय नहीं बनाते।..... असल में कबीर की कविता निराली इसलिए है कि वह शास्त्र का अनुगमन करने के बजाय उसके साथ मुखामुखम करना चाहती है।.... दुनिया जैसी दिखायी गयी, उसे वैसा देखने के बजाय अपनी विधि से पढ़ना-परखना चाहती है।"[३] इस प्रकार कबीर 'कवि' शब्द के मूल अर्थ को सार्थक करने वाले तथा कालजयी रचनात्मकता के रचनाकार हैं।

कबीर तथाकथित ज्ञानी नहीं थे, मेरी दृष्टि में वे परम ध्यानी थे। ध्यानी इसलिए कि वे इस संसार में सभी रूपों से जुड़े रहे, सभी सांसारिक कर्मों को किया, घर गृहस्थी बसायी, सन्तानोत्पत्ति की, परन्तु इन सबके बीच वे सजग द्रष्टा ही बने रहे, परम सत्य उनसे ओझल नहीं होने पाया। वे ज्ञानियों की भाँति संसार को माया कहकर त्यागते नहीं है, बल्कि एक ध्यानी की भाँति इस संसार को देखते और भोगते हैं। संसार की सीधी और गहन परख के कारण जहाँ कबीर की वाणी मानवीय करुणा से आप्लावित हो उठी, वहीं समाज में फैले पाखण्ड, अन्धविश्वास और विभिन्न मानवीय अत्याचारों के प्रति कबीर जैसा आक्रामक कवि खोजने से नहीं मिलेगा। नरक झेलती मनुष्यता ही कबीर के कविकर्म का वास्तविक हेतु है। यह देखकर कि जिस नारकीय यातना को मनुष्य झेल रहा है, वह उसकी अनिवार्य नियति नहीं है, बल्कि उसकी स्वयं की निर्मिति है, कबीर कह उठते हैं–

जिनहु कछु जाना नहीं, तिन्ह सुख नींद बिहाइ।
मैं रे अबूझी बूझिया, पूरी परी बलाइ।।[४]

संसार में सोते हुए सपने पर सपने बुने जा रहे हैं। इन्हीं सपनों को पूरा करने की आपाधापी ही इस

संसार को नरक बनाये दे रही है। कबीर जागे हैं इसलिए वे जानते हैं कि सपने तो कभी पूरे होते नहीं, बल्कि इन्हीं क्षुद्र सपनों के कारण ही अमूल्य जीवन के परमानन्द से मनुष्य वंचित होता चला जाता है। कबीर की कविताई का एकमात्र यही प्रयोजन है कि लोग मूर्च्छा की गहरी नींद से जाग जाय और इस संसार में वह देख लें जो जागे हुए कबीर ने देखा है। जागे हुए व्यक्त का यह अनिवार्य लक्षण है कि वह इस नश्वर संसार में असंग भाव से प्रेम बाँटता हुआ अत्यन्त सहज एवं वासनारहित हो जाता है। कबीर एक ऐसा संसार निर्मित करना चाहते हैं जिसमें स्वार्थों की अन्धी-दौड़ नहीं बल्कि आपस में प्रेम हो, किसी भी तरह के भेदभाव से रहित हो, कर्मकाण्डों, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से मुक्त हो। सांसारिक नश्वरता के बोध से ही मनुष्यता इन उलझनों से बाहर निकल सकेगी। कबीर की साखियों में यही नश्वरता बोध बार-बार आया है–

झूठे तन कौ क्या गरबावै। मरें तो पल भरि रहन न पावै।
खीर खांड घृत पिंड संवारा। प्रान गए लै बाहरि जारा।
जिहिं सिर रचि रचि बांधत पागा। सो सिरु चंचु संवारहिं कागा।[५]

कबीर का काव्य सात्विक और सरल जीवन की आकांक्षा का काव्य है। विभिन्न गुह्य साधनाएँ एवं काया क्लेश के रूप केवल अहंकार ही निर्मित करते हैं, सहज-समाधि में तो जीवन और धर्म एकमेक होकर परमानन्द या महासुख का सृजन करते हैं सहज जीवन की इतनी सुन्दर झाँकी दुर्लभ है–

जहँ-जहँ डोलों सोइ परिक्रमा, जो कछु करौ सो सेवा।
जब सोवों तब करौं दण्डवत, पूजों और न देवा।।[६]

यह सहजावस्था 'जागरण' का परिणाम है। यह जागरण 'जागने में जागना' है। इस जागरण से 'स्वयं को जाना' जाता है। स्वयं के भीतर स्थित शुद्ध चैतन्य ही परमात्मा है। "कबीर सूता क्या करै, काहे न देखैं जागि।" परन्तु जब-जन किसी बुद्ध-पुरुष ने हमें जगाया, हमने उसको पागल समझा, क्रूरतम व्यवहार किया–ईसा मसीह को सूली, सुकरात को जहर दिया, बुद्ध और महावीर को पत्थर मारा। ऐसे ही हम सत्य से चूकते रहे। "लोगु कहैं कबीर बौरानां।" कबीर को पागल कहने वाले इस संसार को देखकर कबीर करुणा से भरकर रोते हैं। कबीर की यह करुणा ही कबीर को कभी विद्रोही बना देती है तो कभी समाज सुधारक, रहस्यवादी, ज्ञानी और भक्त बना देती है। 'चिन्ता छाँड़ि अचिंत रहु' की आकांक्षा से भरी कबीर की कविता आज असीमित भोगवृत्ति और वर्चस्व की प्रतिस्पर्धा में जलते हृदयों के लिए सच्ची हमदर्द बन जाती है। कबीर प्रेम की पीर से भरकर भेद-बुद्धि को मिटाने का परम सन्देश देते हैं–

आपा पर सम चीन्हिए, तब दीसै सरब समान।
इहि पद नरहरि भेंटिए, तू छाँड़ि कपट अभिमान रे।।[७]

सहजता और सरलता के प्रति प्रतिबद्ध कबीर की कविता आज सैकड़ों वर्ष बाद भी और अधिक

प्रासंगिक होती जा रही है। प्रखर आलोचक शिवकुमार मिश्र अपनी पुस्तक 'भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य' में कबीर के कालजयी कृतित्व को बड़े ही सारगर्भित ढंग से इन उद्धरणों में व्यक्त करते हैं–

"कबीर आज गत हैं। जिस नई मनुष्य संस्कृति और मनुष्य धर्म के लिए वे रास्ता बनाते रहे, अभिशप्त और संघर्षरत रहे, वह आज भी एक सपना बनी हुई है। यातनाग्रस्त मनुष्य की जिस पीड़ा से विक्षुब्ध होकर उन्होंने एक न्यायपूर्ण मानवीय सामाजिक संरचना के लिए आवाज उठायी वह अभीभी प्रतीक्षित है।"[८] "इतिहास के चरण जिस दिशा में बढ़ रहे हैं, उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि आगामी शताब्दी कबीर की शताब्दी होगी।"[९]

इसी प्रकार 'कबीर मीमांसा' नामक पुस्तक में विद्वान् समीक्षक रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं कि "कबीर की कविता उनके सहज जीवन–बोध और तत्कालीन समाजव्यापी मिथ्याचार के बीच उत्पन्न द्वन्द्व एवं तनाव की कविता है। कबीर की कविता में लक्षित होने वाला यह तनाव ही वह बिन्दु है जहाँ आज का कवि अपने को कबीर के साथ खड़ा पाता है।"[१०]

निश्चित ही कबीर का कृतित्व कालजयी है। कबीर काल विशेष में पैदा हुए और मिट गये, परन्तु उनका कृतित्व अभी न जाने कितनी बार, न जाने कितने समयों में 'भेद की पूँछ' को मिटाने की राह को दिखाता हुआ अभेद दृष्टि का सन्देश देता रहेगा–

कबीर इस संसार को समझाऊँ कै बार।
पूँछ जो पकड़े भेद की, उतरया चाहे पार।।[११]

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली–डॉ० अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २०१२, पृ० १२७
२. कबीर बानी–अली सरदार जाफरी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण २०१०, पृ० १००
३. कबीर (पुनर्पाठ/पुनर्मूल्यांकन)–सं० परमानन्द श्रीवास्तव, अभिव्यक्ति प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण २००१, पृ० १०९
४. कबीर–वाणी–सुधा–डॉ० पारसनाथ तिवारी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण २००३, पृ० १९४
५. कबीर–वाणी–सुधा–डॉ० पारसनाथ तिवारी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण २००३, पद सं० १५, पृ० १६७
६. कबीर मीमांसा–डॉ० रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण २०१८, पृ० १६५
७. कबीर–वाणी–सुधा–डॉ० पारसनाथ तिवारी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण २००३, पद सं० ३, पृ० १६४
८. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य–शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, परिवर्द्धित संस्करण २००१, पृ० ८५

९. वही, पृ० ६८
१०. कबीर मीमांसा–डॉ० रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण २०१८, पृ० २२१
११. कबीर मीमांसा–डॉ० रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण २०१८, पृ० ९०

–असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी-विभाग
जगत तारन गर्ल्स पी०जी० कॉलेज
प्रयागराज

नरेश मेहता के काव्य में छन्द

–उत्तमचन्द चौहान

नरेश मेहता में शिल्पिक सजगता प्रयोगवाद की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। जहाँ शिल्प के विविध अंग नवीन प्रयोगों से युक्त रहे, वहीं छन्द के प्रति भी नवीनता का आग्रह इस युग के कवियों में विशेष था। नरेश मेहता ने भी इस आन्दोलन में अपने सहयोगी कवियों को अटूट योगदान दिया। उनके काव्य में परम्परागत छन्द न के बराबर है। लेकिन उन्होंने कुछ परम्परागत छन्दों में फेरबदल करके प्रस्तुत किया है और दो परम्परागत छन्दों के योग से एक मिश्रित छन्द का निर्माण किया है, इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। उन्होंने १२ मात्राओं वाले सारक छन्द में तीसरे चरण में १३ मात्रा वाला प्रदोष च. छंद प्रयुक्त करके मिश्रित रूप में प्रस्तुत किया है–

तम के जो बन्दी थे	१२ मात्राएँ
सूरज ने मुक्त किये	१२ मात्राएँ
किरणों से गगन पोंछ	१३ मात्राएँ
धरती को रंग दिये[१]	१२ मात्राएँ
पूँछ उठाये चली आ रही	१६ मात्राएँ
क्षितिज जंगलों से टोली	१४ मात्राएँ
दिखा रहे पथ इस भूमि का	१६ मात्राएँ
सारस सुना–सुना बोली[२]	१४ मात्राएँ

उपरोक्त उदाहरण में प्रथम और तृतीय चरण में १६–१६ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणमें १४–१४ मात्राएँ हैं। प्रथम और तृतीय चरणमें १६ मात्राओं वाली मत्तसमक छन्द है। दो अष्टकों के योग से इसका निर्माण होता है, इसका दूसरा अष्टक लघु से प्रारम्भ होता है। १४ मात्राओं वाले चरण में सखि छन्द है, इसके चरण का अन्त दो गुरु से होता है। इस प्रकार यह छन्द मत्तसमक और सखि के योग से बना विकर्षाधार छन्द है।

मिश्रित छंद का एक और उदाहरण बन पाखी सुनो की चन्द्रमायनी कविता में देखा जा सकता है–

नीले आकाश में अमलतास	१६ मात्राएँ

झर–झर गोरी छवि की कपास	१६ मात्राएँ

किसलयित गेरुआ बन फ्लारा	१६ मात्राएँ
किसमिसी मेघ चीवर विलास	१६ मात्राएँ
मन बरफ शिखर पर नैन प्रिया	१६ मात्राएँ
किन्नर रंभा चाँदनी	१३ मात्राएँ

१६ मात्राओं वाले अंश की सभी पंक्तियाँ किसी एक छन्द का अनुसरण नहीं करती, प्रथम पंक्ति में विश्वलोक है, जिसका लक्षण भानु ने छन्द प्रभाकर में इस प्रकार बताया है। पहले चौकल के बाद जगण आना चाहिए। दूसरी पंक्ति में पूरे-पूरे चार चौकल आते हैं। इसलिए पादा फुलक[२] माना जा सकता है।

मुक्त छन्द

संस्कृति, सभ्यता, कला और विज्ञान के क्षेत्र में हमारे देश का प्राचीनकाल विश्व भर में अगुआ कहा जाता है। इसलिए इन क्षेत्रों की, आज विदेशों में होने वाली, आश्चर्यजनक से आश्चर्यजनक उपलब्धि भी किसी-न-किसी रूप में हमारे देश के पुरातन में घटित होती देखी जा सकती है। इस दृष्टि में वेदों का तो अत्यन्त महत्त्व है। अतः विवशता के न्याय से ही सही नया कवि[२] (और अधिक बल के साथ छायावादी कवि[३] भी) जब मुक्त-छन्द की अपनी काव्य प्रवृत्ति के समर्थन में शोध करता हुआ, संस्कृत छन्दों से भी परे, अधिक लोच एवं स्वच्छन्दतायुक्त वैदिक छन्दों तक पहुँच जाता है और खुद तथा नयी कविता कोा वेदों से जोड़ने की कोशिश करता है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कम-से-कम हमें नये कवि की इस प्रकार के वेदों से जोड़ने वाली शोध प्रवृत्ति का मखौल तो नहीं ही उड़ाना चाहिए। भले ही हिन्दी के शोधार्थियों की ऐसी शोध-प्रवृत्ति का नया कवि कितना ही मखौल क्यों न उड़ाता हो।

उल्लेखनीय है कि अज्ञेय ने सार्वभौमिक शब्द शैली में हिन्दी की शोध-प्रवृत्ति का मजाक उड़ाते हुए लिखा है-"हिन्दी में शोध की जो लीक बन गई है, उसका थोड़ा-बहुत परिचय भी है ही। मैंने मन-ही-मन सोचा अच्छा है, कम-से-कम यह प्रबन्ध तो वेदों से नहीं आरम्भ करेगा, क्योंकि आधुनिक उपन्यासके शिल्प के वेदों का क्या सम्बन्ध है?.... मेरी भूल थी। आरम्भ वेदों से ही था-वेदों में क्या आख्यान नहीं है।" बहरहाल, नये कवि को यदि मुक्तछन्द जैसी स्वच्छन्दता का भी आधुनिक वस्तु पर हुए आक्रमण को निरस्त करने के लिए पुरातन लोचादियुक्त वैदिक छन्दों की भारतीय परम्परा में खुद को रखना तर्कसंगत लगता है, तो उसकी इस प्रवृत्ति पर ऐतराज नहीं होना चाहिए। अतः पश्चिम में मुक्ति की लहर पहले आ जाने के कारण बाद में उस लहर को अपनाने वाली हिन्दी कविता पर, पश्चिमी कविता का प्रभाव सहज ही माना जा सकता है।

मैं मोन-मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच, छन्द मुक्त को
गाता हूँ।

(चक्रान्त शिला, अज्ञेय)[१]

"नयी कविता की प्रत्येक रचना का अपना एक निजी और विशिष्ट छन्द है, जो उसमें व्यक्त अनुभूति की अनिवार्यता से उसी के साथ जन्मा है जैसे जीवधारी की देह जन्मती है।"[२]

नया कवि यह मानता ही नहीं है कि अतीत, वर्तमान या भविष्य किसी भी समय की कविता लय के बिना भी हो सकती है।[३] छन्द-मुक्त कविता के लिए तो लय को वह कहीं ज्यादा जरूरी मानता है, क्योंकि काव्य के स्वरूप को रक्षित रखने तथा उसके आन्तरिक ढाँचे को सशक्त बनाने के लिए वह जरूरी है।[४] अतः उसकी दृष्टि में, मुक्त छन्द में लिखने का तात्पर्य छन्दात्मकता या इस विशिष्ट सन्दर्भ में कहे लयानुशासन का निषेध नहीं होता।[५] नयी कविता में मुक्त कवि कभी निश्चित लय को लेकर चलते हैं तो कभी लयवैविध्य को लेकर भी चलते हैं, लयादर्श को ध्यान में रखकर लिखी कविताओंमें चतुर्मात्रिक, पंचमात्रिक, षट्मात्रिक, सप्तमात्रिक, अष्टमात्रिक और नवमात्रिक लय देखी जा सकती है। भाव प्रेषण की रक्षा केलिए लय वैविध्य भी देखने को मिलता है। साथ ही साथ कहीं-कहीं लय की टूट-फूट भी देखी जा सकती है। नरेश मेहता के काव्य में लयादर्श को पालन करने वाली कविताएँ पर्याप्त हैं। साथ ही लयवैविध्य भी देखने को मिला है। नरेश मेहता के काव्य में प्रयुक्त छन्द इस प्रकार हैं–

पंचमात्रिक

पंचमात्रिक पर्व में तीव्रता और आवेग की मात्रा अधिक होती है। डॉ० पुत्तुलाल शुक्ल ने इस पर्व के अभाव की शिकायत की है, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं। अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल और जगदीश गुप्त ने अपनी कविताओं में पंचमात्रिक पवर्व का प्रयोग खूब किया है। पंचक के सफल प्रयोक्ता के रूप में जगदीश गुप्त का नाम लिया जा सकता है। नरेश मेहता के काव्य में पंचमात्रिक पर्व का प्रयोग कम मिलता है। संशय की एक रात का समापन कवि ने पंचक से ही किया है–

शान्त हो	५
ओ सूर्यतपी मेरी शिला। शान्त हो।	५, ५, ५, ५
शान्त हो	५
तुम स्वयं सूर्य नहीं थी।	५, ५, ४

ठस उदाहरण में तीन पंक्तियों तक छन्द का पूर्व निर्वाह हुआ है पर अन्तिम पंक्ति में आकर एक मात्रा की कमी पड़ जाती है।

षट्मात्रिक

मुक्त छन्द में इसका प्रयोग विरल हुआ है। यह पर्व त्रिक पर्व के द्विगुण विस्तार का ही रूप है यह पर्व वेग मुक्त प्रवाह के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है। मेहता जी के काव्य में यह पर्व खूब देखने को मिलता है–

आधी रात में	६, ३
एक सूर्योदय होता है	३, ६, ६

जिसे देखना ६, २
विराट होना है। ४, ६
देखोगे?[२] ६,

उपरोक्त उदाहरण में कुछ षष्टक दो त्रिकलों के योग से बने हैं तथा कुछ अन्य योगों से भी बने हैं, पहली पंक्ति में एक षष्ट्क बनकर एक त्रिकल शेष रहता है, जो दूसरी पंक्ति के आरम्भ से मिलकर एक षष्ट्क बना लेता है। मुक्त छन्द के कुछ और उदाहरण जिसमें कवि ने शब्द लय को दर्शाया है। तुकान्त का ये उदाहरण–

दिन
कुछ खुल-सा आया था उस दिन,
पर तुमने
आज गिरा ली उस पर चिलमन।३
पुष-भाषा नैनों में,
पर आ रही सुगन्ध
इन चीनाशुंक ओर किये सैनों में,
हर सिंगार मत गूथों
इन पतले ओठों के
गिरे-गिरे बैनों में।[४]

मेहता जी की पूर्ववर्ती रचनाओं में कहीं-कहीं मात्रिक छन्द मिलते हैं।

परन्तु अधिकांश कविताँ मुक्त छन्द में हैं। उनकी परवर्ती रचनाएँ छन्द-मुक्त हैं, उनमें शब्द लय तो नहीं है पर अर्थ-लय पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होती हैं वही मुक्त-छन्द की विशेषता है–

उदाहरण–

खुली आँखों
तुम
बन्द आँखों
देह।
चाहिए तो था–
खुली आँखों
छेह
बन्द आँखों
तुम।[१]

नरेश मेहता की रचनाओं का छन्द-विधान नये कवियों के छन्द विधान से उत्कृष्ट है। अधिकांश कविताएँ मुक्त-छन्द तथा छन्द मुक्तमय होते हुए भी अर्थपूर्ण एवं सारगर्भित है। अभिव्यंजना शिल्प की यह उत्कृष्टता उन्हें नयी कविता का शलाका पुरुष सिद्ध करती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. जनगरबा चरेवेति, दूसरा सप्तक–नरेश मेहता

२. किरण धेनुएँ, पृ० ११२

–कार्यकारी प्राचार्य
जवाहरलाल नेहरू राजकीय ललितकला
महाविद्यालय, शिमला
(हिमाचलप्रदेश)

सन्त रैदास के काव्य में सामाजिक मूल्य

–डॉ० पूर्णिमा आर

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल का विशेष महत्त्व है। इस कालखण्ड में यहाँ मुस्लिम शासन का समय था। दास, खिलजी, तुगलक, सैय्यद, लोदी, मुगल आदि वंशों के व्यक्ति राजगद्दी पर प्रतिष्ठित हुए। मुस्लिम शासकों के राज्य का आदर्श इस्लाम के सिद्धान्तों से अनुप्राणित था। भारत वर्ष साम्प्रदायिक संघर्षों का अखाड़ा बना। इसके साथ भारतीय हिन्दु समाज में दलितों की दशा अत्यन्त खराब थी। साधना के स्थान पर बाह्याचारों की प्रतिष्ठा हुई।

देश के कोने-कोने में अनाचार, आचार, भ्रष्टता, अत्याचार, अन्धविश्वास और अशान्ति का बोलबाला था। समाज के अधिकांश लोक बाह्याचारों के दास बने हुए थे। समाज के प्रति लोग निरुत्तरदायी ढंग से बर्ताव करते थे। भीतरी और बाहरी संघर्ष के कारण भारतीय संस्कृति विच्छिन्न हो गयी। सन्तकाव्य परम्परा का आविर्भाव इसी कालखण्ड में हुआ।

हिन्दी के सन्त काव्यधारा में सन्त रैदास का व्यक्तित्व विलक्षण है। वे बड़े विद्वान्, दार्शनिक, कवि, समाज-सुधारक थे। भक्ति-आन्दोलन को प्रभावशाली बनाने में उनकी महती भूमिका है। उनका जीवनकाल १५वी सदी माना जाता है। उत्तर भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक वातावरण में रैदास ने उज्ज्वल भूमिका निभाई।

सन्त रैदास की माँ कलसादेवी थी, और उनके पिता का नाम था संतोखदास। रैदास चमार जाति के थे। उन्होंने अपने ही पदों में स्वयं को चमार कहा है। (**कह रैदास सलास चमारा। ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।**) कबीर की भाँति वे भी काशी के रहने वाले थे। वे भक्तिभाव में तल्लीन रहते थे। मधुर व्यवहार के आदमी होने के कारण सम्पर्क में आने वाले लोग उनसे बहुत प्रसन्न होते थे। साधु सन्तों की सहायता करने में उन्हें विशेष आनन्द मिलते थे। साधुसंतों की संगति में रहकर उन्होंने पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। वे कबीर के समकालिक थे। गुरु रामानन्द के शिष्य भी।

रैदास की रचनाओं का कोई ग्रन्थ विशेष नहीं मिलता। सन्त बानी सीरीज में 'रैदास बानी' के नाम से कुछ फुटकल पद संग्रहीत हैं। इनके चालीस पद **आदि गुरुग्रन्थ साहिब** में हैं। निर्गुण विचारधारा का सार इन पंक्तियों में भरा हुआ है।

माधव क्या कहिए प्रभू एसा जैसा मानिए कोई न तैसा
नरपति एक सिंहासन सोइया, सपने भया भिखारी
अछत राज बुछुरत दुखु पाइया, सोगति भई हमारी।

भक्त मीरा काव्यों में गुरु के रूप में रैदास की याद है। मीरा की पंक्तियाँ हैं–गुरु मिल्या रैदासजी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी–रैदास संत मिले मोहीं सतगुरु दीन्हीं सुरत सहदानी। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में लिखा है मीरा के पदों में शून्य–महल, त्रिकुटी आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जो निर्गुण उपासकों के प्रभाव के द्योतक हैं।[२]

सामाजिक पृष्ठभूमि

रैदास के समय में दलितों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार नहीं था। पूजा–पाठ का अधिकार भी उनसे छिन गया था। भारत वर्ष में मुस्लिम साम्राज्य पूरी तरह से हावी था। मुसलमानों के अनाचारों, अत्याचारों की आँधी जोरों पर थी। चतुर्वर्णव्यवस्था एक अभिशाप के रूप में सारे समाज में फैल गई थी। समाज संगठन की अपेक्षा विघटन की ओर अग्रसर हुआ। भारत समाज विविध इकाइयों में विभक्त हो गया। मन्दिर प्रवेश में मनाही होने के कारण अनेक दलित संत कवि निर्गुण भक्ति की ओर उन्मुख हुए। वे एक ओर दलित समाज के लिए संघर्ष करने लगे आौर उन्हें ईश्वर भक्ति में विश्वास दिलाया। मन्दिरों से उनके मन में नफरत थी। पूजा, ढोंग, पंथ के खिलाफ जंग शुरू हुई।

सन्त रैदास उनमें से एक थे। रैदास को तत्कालीन जातिव्यवस्था की बुराइयों को झेलना पड़ा। चमार जाति के होने के कारण ऊँची जाति के लोग उन्हें हीनभावना से देखते थे। समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए उन्हें अनेक संघर्षों से गुजरना पड़ा। किन्तु दलितों में सामाजिक चेतना जगाने के लिए उन्होंने जीवन–भर संघर्ष किया। दलित समाज को नया रास्ता दिखाने में वे अग्रणी थे। सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के बावजूद रैदास ने असाधारण आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान अजित किया। समाज में प्रचलित जाति–आधारित भेदभाव और असमानताओं की चुनौती दी। इन्द्रराज सिंह ने अपनी पुस्तक संत रविदास में लिखा–"संत हिन्दू थे मुसलमान नहीं थे, वे एक इनसान और ईश्वर के भक्त मात्र थे।"[३]

संत रैदास के काव्य में संतकाव्य की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है–"अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म–समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निसन्देह रैदास केभजन इस गुण से समृद्ध हैं। सीधे–सादे पदों में संत कवि के हृदयभाव बड़ी सफाई से प्रकट हुए हैं और वे अनायास सहृदय को प्रभावित करते हैं।"[४]

आध्यात्मिक, सामाजिक और मानवीय मूल्य

भारत की दीन–दुखी जनता को सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान करना, आस्था और विश्वास दिलाना उनका ध्येय था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के कठोर बन्धनों से छुटकारा दिलाने में उन्होंने दलितों का साथ दिया। रैदास ने असीम विश्वास, आस्था और भक्तिभावना से अपनी बात को निडरतापूर्वक कहा।

विघटित भारतीय समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम रैदास ने अपने काव्यों के जरिये किया।

उन्होंने बताया कि सत्, संतोष और सदाचार ये तीन गुण जीवन के आधार होने चाहिए। जिस व्यक्ति से स्वभाव में इन तीनों की त्रिवेणी रहती है वह देवता के समान है।

सत् संतोष अरु सदाचार, जीवन के आधार।
रैदास भये नर देवते, जिन तियागे पंच विकार।।

मानव को इन्द्रियों पर काबू पाना आवश्यक है। इससे वह बुद्धि और विवेक को सदैव अपने साथ रख सकते हैं। जो लोग इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते उनकी बुद्धि और विवेक साथ न देता। इन्द्रियों को वश में लेने से लोगों की दृष्टि सामाजिक बुराइयों से दूर हो जाती है। इससे उनमें मानवता की भावना और सामाजिक चेतना जागृत होती है।

बुद्धि एक विवेकहि, जंउ राखन चाहौ पास।
इन्द्रियां संग निरत की, तजि देहु रैदास।।

मनुष्य को अपने साथ नूर को रखना है तो मन और बुद्धि हमेशा साथ रहनी चाहिए। संत रैदास ज्ञान बुद्धि पर जोर देते हैं। इसका कारण यह है कि एक बुद्धिमान आदमी के हृदय में मानवता के प्रति असीमित प्यार होता है और इसी प्यार में सामाजिकता की भावना रहती है।

रैदास इच्छाएँ आपुनी, भोगन सेति रखदूर।
मन बुद्धि रहंहि नित, घट में रहिबै नूर।।

आत्मविश्वास की भावना को बढ़ाने की आवश्यकता पर रैदास बल देते हैं। सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मविश्वास अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य आत्मा को साध रखे अर्थात् इन्द्रियों से विरत होकर आत्मा पर विश्वास करे तभी आत्मविश्वास बढ़ता है। आत्मविश्वास वाले व्यक्ति समाज को समता की दृष्टि से देखते हैं।

कुरमे भांति जु रहाहिं, मन इन्द्रारियां रैदास।
सात रहद् नित आत्मा, बढ़हि आत्म विश्वास।।

मानव के दुख का कारण है धन संचय। धन आपस में वैमनस्य की भावना पैदा करता है। धन की लालच से सामाजिकता की भावना में दरारें पड़ती हैं। धन संचय से समाज टूट जाता है।

धन संचय दुख देत है, धन त्यागे सुख होय।
रैदास सीख गुरू देवकी, धन मति जोरे कोय।।

रैदास ने वर्ण व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई लड़ी। हिन्दू समाज में चतुर्वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। वे धार्मिक और सामाजिक बाधाओं को पार करके ईश्वर के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में थे। उन्होंने सभी मनुष्यों की समानता के महत्त्व पर जोर दिया। उन्होंने मनुस्मृति को पूरी तरह नकारा। जन्म के आधार पर की गई वर्णव्यवस्था को उन्होंने दुत्कारा। रैदास ने सदैव कर्म को वरीयता दी। उनकी मान्यता थी कि कर्म के अनुसार ही व्यक्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाना चाहिए, इसमें जन्म की कोई महत्ता नहीं।

संत रैदास ने धन संचय को दुख का कारण बताया है। अन्दरूनी टूट फूट का कारण धन है। सम्बन्धों में इससे दरारें पड़ती हैं। इससे सामाजिकता को धक्का लगता है। रैदास की मान्यता रही कि धन संचय से समाज टूट जाता है।

धन संचय दुख देता है, धन त्यागे सुख होय।
रैदास सीख गुरु देवकी, धन मति जोरे कोय।।

धन संचय दुख भरी खान होने के कारण इस दुख से दूर रहना ही अच्छा है। सत्य पालन से अन्तर्मन में शान्ति और सुख मिलता है। सामाजिकता की भावना को कायम करने के लिए सत्य का पालन हमेशा करना चाहिए।

रैदास की दृष्टि सदैव कर्म पर केन्द्रित थी। तत्कालीन जनता मुसलमानों के अतिक्रमण के कारण कर्म स मुख मोड़ चुके थे। रैदास ने अपनी वाणी द्वारा जनता के निष्क्रिय मानस को जगाने का कार्य किया। व्यक्ति के कर्म पर उन्होंने विशेष बल दिया और कर्म को पूजा के रूप में स्वीकार किया। सच्चा आदमी कर्म से गुजरकर धर्म केरास्ते में पहुँचता है। सन्त रैदास की वाणी का प्रभाव सारे समाज में पड़ा। इससे लोग कर्म के सच्चे अर्थ को समझ पाये।

लोगों को धर्म और कर्म के सही अर्थ को समझाने में रैदास की भूमिका सराहनीय है। अपने कर्म से विमुख होकर रात-दिन ईश्वर के भजन या पूजा पाठ के ढोंग में रमे लोगों से उन्होंने कहा कि जिह्वा से ईश्वर का नाम ले, किन्तु हाथ से तू काम कर। यदि तू अपने हाथों का उपयोग कर्म के लिए करेगा तो घर में बैठे ही ईश्वर मिल जाएगा।

जिह्वा सों ओंकार जप, हत्थन सों कर कार।
राम मिलिंहि घर आइ कर, कहि रैदास विचार।।

कर्म करे तो सच्चा कर्म करना है। कर्म व्यक्ति को भलाई के रास्ते तक पहुँचाता है। सच्चे कर्मों से व्यक्ति का सुख बढ़ जाता है।

रैदास हिन्दु-मुस्लिम एकता पर बल देते थे। वे हिन्दू और मुसलमानों को प्रेम की भावना से देखते थे। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू-मुस्लिम दोनों एक ही ज्योति की उपज है। एक ही परमपिता की सन्तानें हैं। इसलिए दोनों से प्रेम करना चाहिए।

मुसलमान सों दोसती, हिन्दुअन सो कर प्रीत।
रैदास जोति सम राम की, सम है अपने मीत।।

राम और रहीम को वे एक ही सत्ता के दो रूप मानते थे। राम और रहीम का भेद करने से सामाजिक द्वेष की भावना जन्म लेती है। सामाजिकता की भावना को कायम करने में इससे विघ्न हो जाता है। सामाजिकता की भावना लाने के लिए राम-रहीम की भावना को दूर करना है।

उनका कहना था कि मनुष्य जाति में कोई भेदभाव नहीं होता। मानव के बीच सामाजिकता की

भावना लाने के लिए सभी मानव को एक समान समझना है। हिन्दू और मुसलमानों का सृष्टिकर्ता एक है, फिर इनमें अन्तर करना सामाजिक विद्वेष को बढ़ाना होगा।

हिन्दू-मुसलमानों में भेदभाव करने वालों पर उन्होंने तीखी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की। शरीर का सब कुछ (दोनों हाथ, दोनों आँख तथा दोनों कान) एक जैसे हैं फिर हिन्दु और मुसलमान अलग-अलग कैसे हुए।

जब सम करि दु हाथ पत्र, दोउ नैन दोउ कान।
रैदास प्रथम कैसे भये, हिन्दु मुसलमान।।

वे हिन्दू और मुसलमान को सोना और कंगन के समान मानते हैं। जिस तरह सोने से कंगन बनता है और कंगन के बनने पर सोना सुन्दर लगता है। ठीक उसी प्रकार हिन्दू स मुसलमान और मुसलमान से हिन्दू का सम्बन्ध दिखाई देता है और इन दोनों से ही मानवता का विकास होता है। समाज द्रोही लोगों से वे बहस करते थ कि इस बात को मैंने सोध कर पहचाना है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही हैं और भी एक दूसरे से अलग नहीं हैं, क्योंकि दोनों में एक रक्त और एक ही मांस है, इसलिए उनमें भेद नहीं हो सकता।

सन्त रैदास के दार्शनिक चिन्तन में निर्गुण ईश्वर की महिमा में अटूट विश्वास है। वे वर्ण हीन समाज की परिकल्पना करते थे। सन्त काव्यधारा के अवर्ण सन्तों ने निर्गुण ईश्वर की महिमा पर बल दिया। इसका सामाजिक कारण यह रहा कि उन्हें मन्दिर-प्रवेश में मनाही थी। रैदास ने नीति उपदेशों से सामाजिक भावना जगाने का प्रयास किया। धार्मिक और सामाजिक बाधाओं को पार करके ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करने की माँग की।

ईश्वर के बारे में उनका कहना है कि ईश्वर का न तो आदि है और न अन्त। वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वास करता है। उसके नाम अनेक हैं। सच्चे भक्त के लिए ईश्वर एक है।

आद अन्त जिहि कर नहीं, जिह कर नाम अनन्त।
सम करि पालन हार हइ, रैदास अबिगत भगवन्त।।

रैदास ईश भक्ति से समाज को जोड़ना चाहते थे। उनके समय में तत्कालीन जनता अपने-अपने ईश्वर को लेकर समाज में विष घोल रहे थे। वे ईश्वर के वास्तविक रूप को नहीं पहचानते थे। रैदास का मूल उद्देश्य था कि मनुष्य-मनुष्य के बीच फैली हुई वैमनस्य की भावना को समाप्त कर सच्चा ईश्वर भक्त बनाया जाय।

संत रैदास ने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए प्रयास किया। वे मन्दिर और मस्जिद में कोई भेद नहीं मानते थे। दोनों में विराजमान राम और रहीम को एक मानकर चलते थे। रैदास जी हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी धर्मावलम्बियों को एक मंच पर लाना चाहते थे। सभी एक ही परमपिता की सन्तान समझने लगे तो वैमनस्य की भावना मिट जाएगी। इस प्रकार लोगों में प्रेम की भावना उत्पन्न होगी।

उस काल में भक्ति के नामपर इष्ट देवता को खुश करने के लिए जीव हत्याएँ होती थीं। मानव सच्चाई के मार्ग से भटक चुका था। लोग जीव हत्या करके अपने आप में विजय महसूस कर रहा था। हिंसक प्रवृत्ति से समाज का अन्त होना सुनिश्चित था। रैदास जी ने लोगो ंको सही रास्ता दिखाने का प्रयास किया। उन्होंने जीवहत्या को पाप ठहराकर मना किया और उसके दुष्परिणाम बताए। जीवहत्या करने वालों को उन्होंने कठोरतम शब्दों में फटकार लगाई।

रैदास ने सज्जन व्यक्तियों की संगति को महत्त्वपूर्ण माना। सज्जन संगति को निधि कहकर उन्होंने सज्जन व्यक्तियों से सम्मान प्रकट किया। बाहरी दिखावे से बड़प्पन करने वालों को वे दुत्कारते थे। वे मानव को सीखना चाहते थे कि आपस में घृणा करने वाले आदमी नरक के काबिल हैं, वह संसार के प्रेम पाने योग्य नहीं। प्रेम में तो श्रद्धा और भक्ति का स्थान होता है। भक्ति ही आपस में प्रेम का मार्ग प्रशस्त करती है।

निष्कर्ष

रैदास की वाणी में भक्ति की सच्ची भावना निहित थी। उनकी उक्तियों का मूल स्वर मानव-प्रेम था। रैदास का समय काव्य सामाजिक मूल्यों पर आधारित काव्य है। कवि के एक-एक दोहे का मूल सामाजिक यथार्थ से उपजा है। उनके सम्पूर्ण काव्य को निचोड़ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का पुरुषार्थ लिए हुए है। मानव-जीवन की आस्था और मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति कवि का चरम लक्ष्य है। मानव जीवन से प्रतिबद्ध और लोकजीवन से जुड़े हैं इनके काव्य। समाज की संवेदना और मानवीय मूल्यों को इनके काव्य उजागर करते हैं। एक संवेदनशील मानव और प्रतिभावान कवि होने के साथ-साथ वे एक श्रेष्ठ चिन्तक भी थे। उनके आदर्श हमेशा कर्मोन्मुखी रहे, जो युग-युग की पीढ़ियों को अद्‌भुत ढंग से प्रभावित करते रहते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८१
२. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास–डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त, पृ० १६०
३. संत रैदास–इन्द्रराज सिंह
४. हिन्दी साहित्य–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १३९
५. रैदास की बानी–बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स इलाहाबाद

–एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी-विभाग)
सनातन धर्म कॉलेज, एलप्पुजा

अवधी लोकगीतों में बाल-विमर्श

–डॉ० अजयकुमार

किसी भी देश का भविष्य उसके नौनिहालों पर टिका होता है। इसलिए समाज की एक महत्त्वपूर्ण जिम्मेवारी होती है कि उन नौनिहालों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से उत्तम होनी चाहिए। क्योंकि वर्तमान समय के बच्चे आने वाले कल के भविष्य हैं। इसलिए उनकी बुनियादी शिक्षा और पोषण जैसी जरूरतों को पूरा किया जाना अनिवार्य है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को यदि गहन रूप से अवलोकित करें तो पायेंगे कि भक्तिकाल में तुलसीदास और सूरदास के काव्य में बालगीतों के जरिए बालकों के मनोभूमि को चित्रित करने क प्रयास किया गया है। वही रीतिकाल से लेकर अब तक बाल गीतों का सृजन किया जा रहा है। बच्चों के मनोरंजन के लिए बालगीत, पंचतन्त्र की कहानियाँ और हितोपदेश शामिल हैं। मनोविज्ञान के अनुसार बच्चों के मन में कहानी/कविता या गीत या तुकबन्दी का असर शीघ्र पड़ता है। बच्चे अबोध होते हैं, उनके मनोरंजन अनिवार्य हैं, बसरतें शर्त इतनी है कि वे मनोरंजन स्वस्थ और ज्ञानवर्धक हों। बच्चों मनोरंजन के चुनाव में प्रायः अभिभावक ही तय करते हैं कि अमुख-अमुख मनोरंजन बच्चे के लिए ठीक रहेगा। यह सच भी है कि जब तक बच्चे का स्वतः का विवेक मनोरंजन के चुनाव में चुस्त-दुरूस्त न बैठे तब तक अभिभावक ही ज्ञानवर्धक मनोरंजन का चुनाव करते हैं। क्योंकि वह अनुभव सम्पन्न प्राणी है। समय-समय बुद्धिजीवियां को ऐसा प्रयास करते रहना चाहिए।

बच्चों के शिक्षा के आरम्भिक कदमों में बच्चों को चित्र के माध्यम से अक्षर ज्ञान का बोध कराया जाता है। हम सब लोगों से प्राथमिक पाठशाला में पढ़ा होगा 'क' से कलम 'ख' से खरगोस 'ग' से गमला इत्यादि इत्यादि। आज भी हिन्दी वर्णमाला के अक्षर बोलते समय इन अक्षरों का प्रतिबिम्ब मन-मस्तिष्क के समक्ष उभर आता है। बच्चों का मन तो कोमल है। हम जो उन्हें सीखायेंगे वही वो सीखेंगे। हमारी सीखने-सीखाने की प्रक्रिया पर निर्भर करता है कि बच्चा कितनी सरलता से सीख सकता है। यह बात अलग है कि उसकी शैली क्या और कैसी होगी? प्रायः हम बच्चों के सामने उसकी तोतली बोली में तोतलाकर बोलते हैं। इसका क्या अभीष्ट है? यही न कि बच्चा जो बोलना या कहना चाहता है, उसकी जबान में कहकर उसकी बातों को समझने की पुष्टि करते हैं। यहाँ ध्यान देने वाली बात है–यह है कि बच्चा अपनी मातृभाषा में ही बोलने का प्रयत्न करता है। बाल मनोविज्ञान के अनुसर बच्चे के व्यक्तित्व विकास में उसका परिवेशात्मक कारक बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए हमें सरल सुबोध अध्ययन प्रणाली का चयन करना चाहिए।

२१वीं सदी में मनोरंजन के साधन बदले हुए हैं। वर्तमान युग तकनीकी का युग है। पल-पल की खबरें हमें घर बैठे मिल जाती है। अब किताबें भी मोबाईल/लैपटाप की स्क्रीन में पढ़ी जा रही हैं। खेल भी स्क्रीन पर खेला जा रहा है। कार्टून मनोरंजन के साधनों में सबसे उपयुक्त साधन माना जा रहा है। हमारे टी०वी० चैनल भी ऑनलाइन बच्चों से सम्बन्धित कार्यक्रमों का समय-समय प्रसारण कर रहे हैं। निश्चित तौर पर इसका असर बच्चों पर पड़ता है। हम अपने-अपने अतीत में जायें तो पायेंगे हमारी भारतीय संस्कृति में शिक्षा का व्यापक प्रचार-प्रसार का माध्यम लोक था। लोक में रहने वाला व्यक्ति अपनी सारी व्यथा-कथा को लोक को साक्षी मानकर सब कुछ कह देता है। लोक में आपसी विश्वास की अहम् भूमिका रहती थी। अनुभव हमें ज्ञानवान बनाता है। तो ज्ञान हमें आगेकी राह को आसान बनाता है। हमें कि अब वह समय नहीं रहा कि बच्चे कहें कि–''**उठि प्रातः रघुनाथ नवावैय माथा।**''

बल्कि अब तो बच्चे कहते हैं–

उठि प्रातः लाला बोलैय।
पासवर्ड मोबाइल का पापा खोलैय।।

माँ-बाप भी इतने व्यस्त हैं कि वह बच्चे को मोबाइल देकर स्वयं अन्यत्र कार्यों में खुद को व्यस्त कर लेते हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि तकनीक यदि वरदान है तो शाप भी है। बच्चा धीरे-धीरे मोबाइल का आदी हो जाता है। बाद के दिनों में वह पोर्न जैसी हानिकार वेबसाइडों के गिरफ्त में आ जाता है। जिससे उनके जीवन पर गलत प्रभाव पड़ता है। और वे अपने लक्ष्य मार्ग से भटक जाते हैं। रात-दिन मोबाइल/लैपटाप के निरन्तर प्रयोग से उनके स्वास्थ पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रायः उनकी नींद गायब हो जाती है। उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। यदि समय रहते इन्हें इन कुप्रवृत्तियों से नहीं रोका गया तो उनके जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, जिसके परिणाम स्वरूप बच्चे कई प्रकार की गम्भीर बीमारियों की चपेट में आ जाता है।

अवध प्रदेश में राम जन-जन में व्याप्त है सो यहाँ राम ही आदर्श है, युवा, वृद्ध और बच्चों के हाव-भाव, चाल-चरित्र में राम का आदर्शीकरण किया जाता है–

आजु अयोध्या मा जन्में हैं राम।
धन्य-धन्य भाग हमारे।
सुख से जी लेहूँ रामा,
धन्य-धन्य भाग हमारे।
नाती देखऊ-देखऊ पनाती रामा,
धन्य-धन्य भाग हमारे।
मरत बैकुण्ठ देखऊ रामा,
धन्य-धन्य भाग हमारे।
सोने की सीढ़ियाँ बनवा दिहूँ रामा

धन्य-धन्य भाग हमारे।
बसवा के नहिया मोरा फूले कुल रामा
धन्य-धन्य भाग हमारे।
वंश देखी छाती जुड़ाय लेहूँ रामा
धन्य-धन्य भाग हमारे।
आजु अयोध्या मा जन्में हैं राम,
धन्य-धन्य भाग हमारे।

घर की बुर्जुग की अभिलाषा है कि उनके कुल में पुत्र पैदा हो जाय, जिससे उसका कुल भी रोशन हो जाय। वह पुत्र के पैदा होने पर सोने की सीढ़ी की माँग करती है। लोक जनमानस में यह जनश्रुति है कि यदि बुजुर्ग सदस्य अपनी लम्बी आयु को प्राप्त करता है तो सीधे बैकुण्ठ में जगह मिलती है। बैकुण्ठ जाने के लिए सोने की सीढ़ी की आवश्यकता पड़ती है। जो उसके नाती-पनाती और सनाती बनवाते हैं, और मृत्यु के पश्चात् मृतक के पैरों में फसा देते हैं। जैसा कि हर किसी की इच्छा होती है कि वो और उसका परिवार खुशहाल रहे। वैस ही इस मृतक की भी इच्छा है कि मरने के बाद भी उसका परिवार खुशहाल रहे।

बड़ी मनौतियों के बाद घर में किलकारी गूँजी और पुत्र की मनोकामना फलीभूत हुई है। अब तक जो लोग निपूती/निरवंशी कह रहे थे अब नहीं कहेंगे। अब उसे रोज-रोज के तानों से मुक्ति मिल गयी है। वह अपने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद देती है। घर में चारों ओर खुशी का माहौल है, सभी खुश हैं। सबसे ज्यादा माँ के बाद किसी को खुशी है तो वह है बुआ। बुआ को भतीजे को लेकर तरह-तरह की मनोकामनाएँ की पूर्ति हुई है। अन्ततः बुआ शृंगार कराती है–

काली-काली अँगिया पहने नंदलाला।
काली-काली अँखियाँ देखे मुस्काय।।
चभूरि देखि-देखि खुश होय नंदलाला।
काला टीका माथे मे लगवाया।
किलकारी मारे नंदलाला।।
आपै देखै आपै हँसय।
आपै-आप झूमें नंदलाला।।

पुत्र का बालपन अपने आपमें बड़ा निराला होता है। पुत्र जब बड़ा होने लगा तो वह अपने बल पर चलने की कोशिश करने लगा वह कुछ दूर तक चलता है और फिर गिर पड़ता है। वहफिर से कोशिश करता है और आगे बढ़ता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे करके चलना सीख जाता है, यथा–

डगमग-डगमग चलत नंद अपनो आप हँसत है।
चलि-चलि गिरत भूमि, लोटत-लाटत आवत है।।

कमर करधनी माला, टीका सँवर रंग सोहत है।
झून-झून बाजत पैजनियाँ छवि-छवि को मोहत है।
डगमग-डगमग चलत नंद अपनो आप हँसत है।
कनखिन-कनखिन नंद गोपी देखी-देखी लसत है।
कछू दतियाँ धवल साँवरे की मोहिनी मूरत हरत चित।
डगमग-डगमग चलत नंद अपनो हँसत है।

प्रायः गाँव में अक्सर देखा जा सकता है कि जब खेती-बारी के काम-काज से निकटकर जब थके-मादे व्यक्ति घर आता है, तो अपने बच्चों को दुलराता है, प्रेम करता है, इससे उसकी थकान मिट जाती है। वह उसकी तोतली बोली में खुद तोतलाकर बोलता है। और आनन्द का अनुभव प्राप्त करता है। इसी प्रकार माँ जब अपने कार्यों से निवृत्त होकर अपने बच्चे को लेकर रात में सोने को जाती है तब बच्चा आसमान में चाँद को देखकर हँसता है तो माँ उसे चन्दा मामा का गीत सुनाती है। पण्डित अयोध्या सिंह हरिऔध लिखते हैं–

चन्दा मामा दौड़े आओ।
दूध कटोरा भरकर लाओ।।
उसे प्यार से मुझे पिलाओ।
मुझ पर छिड़क चाँदनी जाओ।।
तू है मेरा चन्द खिलौना।
मैं हूँ तेरा छुन्ना-मुन्ना।।[१]

लोक जनमानस में हम उठते-उठते लोक कहावतों, गीतों और मुहावरों का प्रयोग करते हैं। माँ अपने बच्चे को सुबह जब जगाती है तो वह किसी गीत या लोरी को गाकर बच्चे को उठाती है। बच्चा तो बच्चा है वह कभी जागता है तो कभी फिर से सो जाता है। बच्चा उठना तो चाहता है पर आलस्य के कारण पुनः नींद के आगोश में चला जाता है। माँ उसे लोरी सुनाती है–

कीची-कीची कौवा खाये।
दूध-भात बऊवा खाये।।
मुन्ना रोवे गोदी मा।
गईया खाये हौदी मा।।
जो जाजगय दूध बतासा खाय।
जो सोवे वो पड़े-पड़े पछताय।।
कुत्ता जागय बिल्ली जागय।
और जागय कनकौवा।।

सबका मारि भगाईयोहो।
दूध रोटी खाय मोर बाऊवा।।

सावन-भादों में जब आसमान में काले-काले बादल छा जाते हैं तो किसान को बड़ी उम्मीद रहती है। वह आशा करता है कि इस बार उसकी फसल बढ़िया होगी। वह अच्छी फल को लेकर अस्वस्थ है। जैसे ही आसमान में काले बादल छा जाते हैं वैसे ही बच्चों का एक झुण्ड खुले मैदान में चिल्लाता है और मेघों को आने का निमन्त्रण देता है। बादल के साथ-साथ आँधी भी आती है। तो बच्चे मैदान में उछलते हैं और चिल्लाते हैं मानो एक मेघ छलांग लगाकर आसमान की सैर करना चाहते हैं। वे आनन्दित है। वे उल्लास के स्वर में कहते हैं–

आँधी आवय पानी आवय,
गिल्ली का दमाद आवय।
कौड़ी गिर गयी खेत मा,
पानी बरस गा रेत मा।
दाल दे पिसान दे,
घर आये मेहमान का सम्मान दे।

मानव जीवन में सुख-दुःख का आना-जाना लगा रहता है। वह अपनी दैनिक दिनचर्या को अविरल गति से गतिमान रखता है। गर्मी के दिनों में प्रायः दोपहर के समय बच्चे, बच्चियाँ, गुड्डे-गुडियों का खेल खेलते हैं। इस खेल में जीवन का उत्सव छिपा रहता है। बच्चा घर, परिवार में जो देखता है वही सीखता है। बच्चे के व्यक्तित्व में परिवेश का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। वे गुड्डे-गुड़िया के खेल का भावी-जीवन की परिकल्पना करते हैं या जो वर्तमान में चल रहा होता है उसे स्मृतियों के कैदखाने में सुरक्षित करते चलते हैं–

मुन्नी-मुन्नी औढे चुन्नी गुड़िया खूब सजाई।
किस गुड्डे के साथ हुई तय इसकी आज सगाई?
मुन्नी-मुन्नी ओढ़े चुन्नी कौन खुशी की बात है।
आज तुम्हारी गुड़िया प्यारी को क्या चढ़ी बरात है।
मुन्नी-मुन्नी ओढ़े चुन्नी गुड़िया गले लगाये।
आँखों से यह आँसू क्यों रह-रहकर बह जाये।
मुन्नी-मुन्नी ओढ़े चुन्नी क्यों ऐसा यह हाल है।
आज तुम्हारी प्यारी गुड़िया जाती क्या ससुराल है।[२]

सभी बच्चे प्रायः ऐसे ही मनोरंजन करते हैं और खेल-खेल में दुनियादरी की शिक्षा हासिल कर लेते हैं। यही शिक्षा उनके भावी जीवन में काम आती है। संसार की रीति के अनुसार जब कोई व्यक्ति इस कर्म लोक में जन्म लिया उसे यहाँ के कार्यों को करना ही पड़ेगा।

हमारे जीवन में स्वास्थ सबसे बड़ी अमूल सम्पदा है। इसे सही अर्थों में स्वस्थ बनाये रखना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है। क्योंकि यदि हम स्वस्थ ही न रहे तो हमें अन्य सांसारिक सुखों का भोग नहीं कर पायेंगे। तब हमरे धन-सम्पत्ति का क्या होगा? इसीलिए प्रत्येक दम्पत्ति आरम्भ से ही अपने को स्वस्थता को लेकर सजग रहता है। उसके जेहन में यह सदैव घूमता रहता है कि उसका बच्चा कैसे स्वस्थ रहे और यह दिनोंदिन प्रगति कैसे करे। बस यही चिन्ता प्रायः उसे सताती रहती है। वह आये दिन अपने बच्चों को साफ-सफाई से सम्बन्धित तरह-तरह की चेतावनियाँ देता रहता है–

खेलोगे तुम अगर फूल से तो सुगन्ध फैलाओगे।
खेलोगे तुम अगर धूल से गन्दे बन जाओगे।
कौवे का यदि साथ करोगे तो बोलोगे कड़वे बोल।
कोयल का यदि साथ करोगे तो तुम दोगे मिसरी घोल।
जैसा भी रंग रंगना चाहो घोलो ले वैसा ही रंग।
अगर बड़े तुम बनना चाहो तो तुम रहो बड़ों के संग।[५]

इसी प्रकार के अनगिनत खेल खेले जाते हैं। जिससे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवृद्धि भी होती रहे। हिन्दी साहित्य में वर्तमान समय बाल-विमर्श की आवश्यकता है। यूँ तो लोकगीतों का हिन्दी कविता में व्यापक फलक है। परन्तु लोकगीतों का सुलभ रूप आसानी से मिल जाता है। हिन्दी भाषा पहले से आज अधिक समृद्ध है। स्वतन्त्रता के पूर्व और उसके स्वतन्त्रता के बाद का समाज अवधी लोकगीतों में स्वच्छ से प्रतिबिम्ब समाहित है। लोकगीतों के जरिये प्रकृति के सानिध्य में रहते हैं। वह आज भी शिक्षाप्रद है और आगे भी शिक्षाप्रद रहेगा।

संसार में बच्चे जैसे निश्छल स्वभाव का अन्यत्र कोई नहीं है। बच्चों की मनोभावनाएँ आकाक्षाएँ और इच्छाएँ उसकी कल्पना में समाहित रहती हैं। सभी प्रकृति के सहचर में व्यक्तित्व का विकास करते हैं। आवश्यकता है बच्चों के अतीत की परम्पराओं के साथ तकनीकी दक्षता को अपनाते हुए अपनी बुद्धि कौशल की धारा को और तीव्र करना–

उन्नति करो तुम,
छा जाओ आसमान में।
कीर्ति पताका लहरों,
ज्ञान की सम्पूर्ण जहान में।
तुममें हो थोड़ा साहित्य आदि इतिहास,
भूगोल की तुम नब्ज देखो विज्ञान में।।

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि अवधी लोकगीतों में बालक/बालिकाओं के जीवन से सम्बन्धित गहन विचार-विमर्श हुआ है। अवध प्रान्त के क्षेत्रों में आज भी लोकगीतों और कहावतों के माध्यम से प्रायः बच्चों को सीख प्रदान की जाती है। सीख देते समय यह ध्यान में रखा जाता है कि हम

जिनको सीख दे रहे हैं, उन्हें यह सीख बुरी न लगे। और हँसी-मजाक में बच्चों को सीखने की कड़ी को परस्पर आगे बढ़ाया जाता रहे। गाँवों में बच्चे खेलने के समय जब एक जगह इकट्ठा होते हैं तो आपसी वार्तालाप में गीतों के जरिये समाज के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास करते हैं। विशेष तौर पर बालिकाओं को लोकगीतों के माध्यम से समाज में होने वाले उतार-चढ़ाव को समझाये जाने का प्रयास किया जाता है। बालिका का भावी जीवन कैसा होगा, उसे ससुराल में किन-किन मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा, यह सब समय रहते उसे बताया जाता है। कहने का आशय यह है कि हमारे लोकगीतों का ज्ञान अथाह भण्डार है। हम जैसे चाहें वैसे इन लोकगीतों से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. बालगीत–निरंकार देव सेवक, किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, जीरो रोड, प्रयागराज, प्रथम संस्करण १९६६, पृ० १९७
२. वही, पृ० २१६
३. वही, पृ० २२१।

–असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी
महामाया राजकीय महाविद्यालय
कौशाम्बी, उत्तर प्रदेश
फोन : ९४५५६२४३९७

हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा का योगदान

–डॉ० रूपेश कुमार

रामविलास शर्मा ने अंग्रेजी विषय में पढ़ाई की और उसी के शिक्षक बने, लेकिन अधिकतर लेखन हिन्दी में किया। साहित्य, भाषा, संस्कृति और इतिहास उनके प्रिय विषय रहे। हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा का योगदान अविस्मरणीय है। वे अपने लेखन का आरम्भ कविता से करते हैं, लेकिन शीघ्र ही आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय हो जाते हैं, जिसके कारण के बारे में अपने एक साक्षात्कार में वे बताते हुए कहते हैं कि "१९३४ ई० में निराला जी के विषय में मैंने पहला लेख लिखा। शुरू में मैं कविता करता था। आलोचक बनने का खयाल मेरे दिल में बिलकुल न था। लेकिन निराला जी के विरुद्ध बहुत गलत प्रकार का आन्दोलन चलाया जा रहा था। उनका विरोध करना जरूरी था। चारों तरफ जितने ग्रुप थे, लगभग सभी निराला जी के खिलाफ थे। यहीं से हमारे हिन्दी लेखन का प्रारम्भ हुआ।"[१] स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा ने हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश अपने प्रिव कवि पर लगाए जा रहे आक्षेपों की वजह से किया, लेकिन उनकी पहली पुस्तक १९४१ ई. में प्रेमचन्द पर और दूसरी १९४३ ई० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर प्रकाशित हुई। निराला पर उनकी तीसरी किताब थी जो १९४६ ई० में प्रकाशित हुई, उसके बाद 'निराला की साहित्य साधना' के नाम से उनकी जीवनी लिखी, जो १९६९ ई० में आयी। तीन खण्डों की इस पुस्तक के लिए रामविलास शर्मा को १९७० ई० में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। निराला को समझने के लिए उनके ऊपर लिखी गई यह जीवनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

निराला को हिन्दी साहित्य में स्थापित करने का श्रेय रामविलास शर्मा को जाता है, उन्होंने हिन्दी लेखकों में निराला के ऊपर जितना विस्तार से लिखा है उतना अन्य किसी लेखक के ऊपर नहीं लिखा। वे निराला सम्बन्धी लेखन में उनके विरोध के कारणों को रेखांकित ही नहीं करते, बल्कि विचारधारा, भावबोध और कला के स्तर पर उनकी रचनाओं का संतुलित मूल्यांकन भी प्रस्तुत करते हैं। रामविलास शर्मा के अनुसार उस समय निराला का विरोध अराजकतावादी, सामन्ती राष्ट्रवादी, पूर्व के साहित्य को बेकार समझने वाले प्रगतिवादी–प्रयोगवादी रचनाकार और निराला की ख्याति से अपने यश को बचाने वाले छायावादी कर रहे थे। वे निराला विरोध की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि "निराला के इस व्यापक विरोध का मूल कारण था; छायावाद की कमजोरियाँ उनके यहाँ कम से कम हैं, प्रगतिशील साहित्य की सामन्त विरोधी विशेषताएँ उनके यहाँ अधिक से अधिक हैं। भारत के स्वाधीन होने पर पूँजीवादी संस्थानों से जुड़े हुए लेखकों ने जनजीवन से अलग हटकर हिन्दी साहित्य को अन्तर्मुखी बनाने का भागीरथ प्रयास किया। निराला इस प्रयास में बाधक थे।"[२]

स्पष्ट है कि निराला का विरोध उनकी कमजोरियों के कारण नहीं बल्कि खूबियों के कारण हो रहा था, जिसको समझने में कुछ लोगों को कठिनाई हुई और कुछ लोग समझते हुए प्रायोजित ढंग से विरोध कर रहे थे और रामविलास शर्मा इस बात को अच्छे ढंग से जानते थे। निराला उनकी दृष्टि में हिन्दी जाति के सबसे बड़े साहित्यकार थे, इसलिए वह उनके महत्त्व को बताते हुए लिखते हैं कि "हर महान साहित्यकार अपने में अप्रतिम होता है, हिन्दी भाषा जाति की अतुल शक्ति और उसके अन्तर्विरोध के प्रतीक निराला थे। उन जैसा साहित्यकार इस प्रदेश में न पहले कभी हुआ था, न सम्भवतः आगे कभी होगा।"[३] यह घोषणा रामविलास शर्मा ने केवल निराला के विरोधियों को जवाब देने के लिए यूँ ही नहीं किया बल्कि इसे पुष्ट करने के लिए विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया और तर्कों के आधार पर इसे सिद्ध भी किया। रामविलास शर्मा से पूर्व निराला पर किसी आलोचक ने गम्भीरता से विचार नहीं किया था। शायद यही कारण है कि उनके काव्य में दुरूहता बनी रही और हिन्दी साहित्य के अध्येता उनके साहित्य के महत्त्व को समझ नहीं पाये। हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा का यह बड़ा योगदान है कि उन्होंने निराला के अध्ययन को सहज बनाया। आलोचक नन्द किशोर नवल रामविलास शर्मा के निराला सम्बन्धी लेखन पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि "यह सच्चाई है कि उन्होंने अपने लेखों और पुस्तकों से निराला काव्य के इर्द-गिर्द खड़ी की गई दुरूहता की दीवार को ढहाकर उसमें पाठकों का प्रवेश कराया, जिसके परिणामस्वरूप ही आज उन पर विमर्श आरम्भ हो रहा है, और हम उनकी सीमाएँ देख पा रहे हैं। उनके पहले कवि-रूप में निराला मात्र एक बौद्धिक और दार्शनिक कवि माने जाते थे। उसके बाद वे देश-काल-विद्ध एक ऐसे महान कवि के रूप में मानी हुए, जिनके काव्य की छवियाँ अशेष हैं।"[४] स्पष्ट है कि मैं रामविलास शर्मा के निराला सम्बन्धी लेखन से न केवल निराला का विरोध बन्द हुआ बल्कि वे महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में स्वीकार किये गये। हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा का यह पहला महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा का दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान हिन्दी नवजागरण की देन है, उनसे पूर्व नवजागरण की चर्चा मं हिन्दी क्षेत्र की उपेक्षा की जाती थी। वह पहले आलोचक हैं जो 'हिन्दी नवजागरण की अवधारणा' प्रस्तुत करते हुए उसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं। इस सम्बन्ध में कर्मेन्दु शिशिर लिखते हैं कि "बंगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के नवजागरण के सापेक्ष हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण की चर्चा अमूमन भारतीय इतिहासकार नहीं करते। न ही इसके कारणों की वे तलाश करते हैं। पहली बार डॉ० रामविलास शर्मा ने हिन्दी के कुछ लेखकों और पत्रिकाओं पर विचार करते हुए हिन्दी साहित्य के नवजागरण की चर्चा की और आगे चलकर एक गहन अनुसन्धान और विस्तृत विश्लेषण से हिन्दी नवजागरण की रूपरेखा स्पष्ट की।"[५] जिसमें उन्होंने हिन्दी क्षेत्र के हर छोटे-बड़े परिवर्तन को नवजागरण के आलोक में रखकर देखा-परखा और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी नवजागरण का अग्रदूत घोषित किया।

रामविलास शर्मा हिन्दी नवजागरण को यूरोपीय रिनेसाँ और भारतीय नवजागरण से अलग करते हैं और उसे भारतीय चिन्तन परम्परा और इतिहास के साथ उसे जोड़ते हैं। अंग्रेजों के विरुद्ध १८५७ की

क्रान्ति हिन्दी क्षेत्र में घटने वाली सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसे उन्होंने हिन्दी नवजागरण की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया। वे लिखते हैं कि ''हिन्दी प्रदेश में नवजागरण १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है।''[६] लगभग नब्बे वर्षों तक कभी तेज तो कभी मंथर गति से चलने वाले स्वतन्त्रता संग्राम के बाद हिन्दुस्तान आजाद हुआ। इस दौरान साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से टकराते हुए भारतीय जन-मानस में राष्ट्रीयता का विकास हुआ, जिसके कारण आज भी देश को मजबूती मिलती है। रामविलास शर्मा १८५७ की क्रान्ति, भारतेन्दु युग, विद्वेदी युग आदि को नवजागरण की अलग-अलग मंजिल मानते हुए उसकी निरन्तरता पर बल देते हैं, उनके अनुसार जागरण का यह कार्य १८५७ के बहुत पहले भक्तिकाल में ही आरम्भ हो जाता है। देखा जाय तो ''भारतेन्दु यग उत्तर भारत में नव जागरण का पहला या प्रारम्भिक दौर नहीं है; वह जन जागरण की पुरानी परम्परा का एक खास दौर है।''[७] स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा १८५७ के पूर्व से हर छोटे बड़े परिवतर्तन को हिन्दी नव जागरण से जोड़ते हैं, जिसमें भक्ति आन्दोलन को विशेष महत्त्व देते हैं। यह ऐसा आन्दोलन था, जिसने भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित किया। हिन्दी पट्टी पर इसका कुछ अधिक ही असर हुआ। रामविलास शर्मा भक्ति आन्दोलन के जागरण को 'लोक जागरण' नाम देते हैं, जिसकी निर्मिति सामन्तवादी संघर्षों से होती है। भक्ति आन्दोलन के बाद और १८५७ के पहले हिन्दी पट्टी में जो थोड़े-बहुत कार्य हुए रामविलास शर्मा उनका भी नजरअंदाज नहीं करते हैं। इस दौर के जागरण को वे 'जन जागरण' का नाम देते हैं जो साम्राज्यवाद से संघर्ष करके आगे बढ़ता है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में रामविलास शर्मा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापना 'हिन्दी जाति की अवधारणा है।' यह अवधारण बहुत विवादित हुई। सबसे बड़ा विवाद जाति शब्द के प्रयोग को लेकर हुआ, क्योंकि जाति शब्द का प्रयोग रामविलास शर्मा बिरादरी (Cast) के अर्थ में न करके कौम (Nationality) के अर्थ में करते हैं। यह प्रयोग हिन्दी में नया है लेकिन बिल्कुल नया नहीं है। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि ''हिन्दी में तथा भारत की अन्य भाषाओं में जाति शब्द बिरादरी पेशेवर (Cast), नस्ल (Race) और कौम (Nationality) के लिए प्रयुक्त होता रहा है।''[८] इस बात को पुष्ट करने के लिए वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कार्तिक प्रसाद खत्री और महावीर प्रसाद द्विवेदी का उल्लेख करते हैं जो उनसे पहले जाति शब्द का प्रयोगबिरादरी के अर्थ में न करके कौम के अर्थ में कर चुके थे, सभी ने संगीत, भाषा और साहित्य की चर्चा करते हुए जाति शब्द का प्रयोग किया था। रामविलास शर्मा भी ठीक उसी अर्थ में जाति शब्द का प्रयोगकरते हुए लिखते हैं कि ''हिन्दी साहित्य न तो किसी सम्प्रदाय का साहित्य है, न किसी वर्ण का। वह हिन्दी जाति क साहित्य है।''[९] स्पष्ट है कि कई प्रकार की अस्मिताओं में बँटे हिन्दी प्रदेश को रामविलास शर्मा नई पहचान देकर एकता के सूत्र मे बाँधना चाहते थे। वह इसके लिए दुनिया के कई देशों के साथ भाषाई आधार पर संगठित भरतीय राज्यों का उदाहरण देते हुए विस्तार से समझाते हैं कि कैसे भाषा और साहित्य उनकी पहचान बना और उनको इसका क्या लाभ मिल रहा है? इस सन्दर्भ में १९०२ की सरस्वती पत्रिका में छपे कार्तिक प्रसाद खत्री के लेख 'महाराष्ट्रीय जाति का

अभ्युदय' की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि 'जैसे महाराष्ट्रीय जाति का अभ्युदय, वैसे ही हिन्दी जातिका अभ्युदय। जैसे अन्य जातियों की क्षमता और सजीवता उनके साहित्य में देखने को मिलती है, वैसे हिन्दी जाति की क्षमता और सजीवता उसके साहित्य में दिखाई देगी। साहित्य को जातीय विकास से जोड़ने का अर्थ है सामाजिक परिस्थितियों से उसके सम्बन्ध को पहचानना।''[९] हिन्दी को छोड़कर भारत के सभी प्रमुख भाषाओं के लोगों ने इसे समझा, जिसके कारण भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन भी हुआ। यही कारण है कि आज उनकी पहचान उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा से होती है। वे अपने साहित्य और संस्कृति पर गर्व की अनुभूति करते हैं और समय-समय पर अपनी ताकत का एहसास भी कराते हैं। पर हिन्दी भाषी जनता अभी इस पहचान से वंचित है, इसलिए उसे अपनी ताकत का पता नहीं है जबकि वह सबसे बड़ा जातीय समूह है। इसके कारणों की पड़ताल करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि ''भारत के अन्य जातीय प्रदेशों की अपेक्षा हिन्दी प्रदेश के लोगों में जातीय चेतना का अभाव है। यह इसलिए नहीं है कि इनमें देशभक्ति बहुत ज्यादा है, वरन् इसलिए कि यहाँ जात-बिरादरी के बंधन अब भी बहुत मजबूत हैं और जनपदीय अलगाव काफी है। इसके अलावा धार्मिक विद्वेष से जनता विभाजित है। साहित्य में हिन्दी-उर्दू का जैसा भेद है, वैसा भेद अन्य प्रदेश में नहीं है। और अंग्रेजी का एक गढ़ हिन्दी प्रदेश भी है, जहाँ का शिक्षित वर्ग अपनी भाषा और अपने साहित्य के प्रति उदासीन रहा है और अपने अज्ञान पर गर्व भी करता है।''[१०] ऐसे लोगों को रामविलास शर्मा की 'हिन्दी जाति की अवधारणा' के माध्यम से जगाना चाहते हैं, जिससे वह अपनी भाषा और संस्कृति को खउद की पहचान से जोड़कर उसकी ताकत का एहसास करे। लेकिन हिन्दी प्रदेश में दो भाषाई अस्मिता होने का सवाल खड़ा कर आलोचकों ने इस अवधारणा की उपेक्षा की। इसके बावजूद रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन में जाति का उल्लेख बार-बार करते हैं।

हिन्दी आलोचना में रामविलास शर्मा इस बात के लिए भी जाने जाते हैं कि उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन में इतिहास से अधिक परम्परा को महत्त्व दिया। वे इस बात को भली-भाँति जानते थे कि साहित्य की परम्परा के ज्ञान से ही आलोचना सम्भव होती है। यही कारण है कि रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य की परम्परा में लुप्त कड़ियों की तलाश करते हैं। देखा जाय तो ''डॉ. शर्मा का इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि वे हिन्दी साहित्य के इतिहास की परम्परा की तलाश करते हुए वेदों तक गये। जो साहित्य उपनिवेशवादी अवधारणा का शिकार था, उसे उसके मूल से जोड़ने का प्रयास किया। प्राच्यवादी दृष्टिकोण को स्थापित करने तथा हिन्दी साहित्य और संस्कृति की परम्परा को निर्मित करने की चिन्ता इसके केन्द्र में है।''[११] इसीलिए वे दूसरे मार्क्सवादियों से अलग हैं, उनका मार्क्सवाद ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं है। रामविलास शर्मा मार्क्सवाद के जड़ की तलाश भारतीय परम्परा में करते हैं और उसका एक नया संस्करण तैयार करते हैं। वे इसके लिए उन सब विषयों पर लिखते हैं जिन पर लिखने से दूसरे मार्क्सवादी या ता बचते हैं या उनके योगदान का मूल्यांकन करने के बजाय उन्हें ध्वस्त करते

हैं। रामविलास शर्मा ऐसा नहीं करते हैं, वे भारतीय परम्परा में प्रगतिशील तत्त्वों की खोज के लिए उन पर लिखते हैं। यह हिन्दी आलेचना में उनका बड़ा योगदान है।

निराला और तुलसीदास रामविलास शर्मा के दोनों प्रिय कवि हैं। निराला की तरह तुलसीदास पर भी उन्होंने खूब लिखा। जीवन के अन्तिम दौर में 'भारतीय सौन्दर्य बोध और तुलसीदास' नाम से उनकी एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने तुलसीदास और भारतीय कलाओं का मूल्यांकन करते हुए दोनों के प्रगतिशील तत्त्वों को रेखांकित किया। रामविलास शर्मा तुलसीदास की तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर भी में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नाम से एक पुस्तक लिखते हैं, जिसके चौथे संस्करण की भूमिका (१९८७ ई०) में वे उनके साहित्य के महत्त्व के बारे में लिखते हैं कि "हिन्दी साहित्य के किसी अन्य आलोचक को लेकर इतना वाद-विवाद नहीं हुआ, जितना शुक्ल जी को लेकर हुआ है। उनके निधन के पैंतीस वर्ष हुए पर उनके विरोध और समर्थन में हम बातें इस तरह करते हैं, मानों वह हमारे समकालीन हों। यह उनके साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व का प्रमाण है।"[१३] स्पष्ट है कि वे शुक्ल जी के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए उनका मूल्यांकन करते हैं। रामविलास शर्मा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा के निर्माण में वही स्थान देते हैं जो प्रेमचन्द एवं निराला दिया। वे रामचन्द्र शुक्ल की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक ढाँचा खड़ा किया, लेकिन उस ढाँचे से वे टकराते हैं, उनकी कई स्थापनाओं को ध्वस्त करते हैं, लेकिन उनसे सीख भी लेते हैं। आचार्य रामचन्द्र ने जिस प्रकार भक्तिकाल में तुलसीदास, कबीरदास, सूरदास और जायसी को एक धरातल पर खड़ा किया उसी प्रकार रामविलास शर्मा आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला को एक धरातल पर खड़ा करते हैं और उनके साहित्य में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद विरोधी तत्त्वों की पहचान कर उन्हें प्रगतिशील परम्परा से जोड़ते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रामविलास शर्मा हिन्दी के बड़े आलेचचक हैं, उनका लेखन बहुत विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का जैसा मूल्यांकन करते हैं वैसा कोई दूसरा आलोचक नहीं करता है, उनकी कई स्थापनाएँ बहुत क्रान्तिकारी हैं इसलिए विवादित भी हुईं लेंकिन उनके महत्त्व को स्वीकार किया गया। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में विरामविलास शर्मा के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. मेरे साक्षात्कार–रामविलास शर्मा, (१९९४ ई०), किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० १४
२. निराला–रामविलास शर्मा (२०००), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका
३. निराला की साहित्य साधना–रामविलास शर्मा, (२००२), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ४९१
४. आलोचना, (अप्रैल-जून २००१), पृ० ८४
५. भारतीय नवजारण और समकालीन सन्दर्भ–कर्मेन्दु शिशिर, (२००३), नई किताब, दिल्ली, पृ० ९१

६. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण–डॉ० रामविलास शर्मा, (२००२) रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका से।
७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ–रामविलास शर्मा, (२००४), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १३
८. हिन्दी जाति का साहित्य–रामविलास शर्मा, (१९९२), राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० १५
९. वही, पृ० ८
१०. परम्परा का मूल्यांकन–रामविलास शर्मा, (२००२), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० २८
११. वही, पृ० १६
१२. नागरी पत्रिका (दिसम्बर-जनवरी २००८), पृ० ३३
१३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना–रामविलास शर्मा, (१९९३), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका से।

–असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी साहित्य-विभाग)
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
महाराष्ट्र (वर्धा)
मो०: ९४०४५४९०८५
Email : dr.roopeshsingh@gmail.com

भारत बोध और हिन्दी साहित्य

–डॉ० भावना

हमारो उत्तम भारत देश
जा के तीन ओर सागर है,
उत हिमगिरी अतिवेश
श्री गंगा, यमुनादि नदी है,
विन्ध्यादि परिवेश।
राधाचरण नित्य प्रति बाढ़ौ,
जब लौ रवि रावेश।[१]

भारत बोध या राष्ट्रीय चेतना का जन्म राष्ट्र के प्रति गहन ममत्व या तीव्र अपनत्व की भावना से होता है। भारत बोध की अवधारणा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन भारत मे राजा–महाराजाओं में व्याप्त परस्पर शत्रुता के कारण देश में एकता नहीं रह गई थी। इस समय विदेशी आक्रामकों ने बार–बार हमारे देश पर आक्रमण किये। कई शताब्दियों तक भारत ने मुगलकालीन गुलामी झेली। उस समय भी कुछ देशभक्त न्याय के लिए लड़ते–लड़ते देश के लिए शहीद हुए। मुगलों की गुलामी झेलते देश पर अंग्रेजों ने अपना कब्जा करके कई वर्षों तक शासन किया व मुगलों की तरह की अंग्रेजों ने भी जनता को कुचला। उस समय कुछ देशभक्त जनता की सुरक्षा व अंग्रेज शासन से मुक्ति के लिए आवाज उठाने लगे। अट्ठारह सौ सत्तावन ईसवी की क्रान्ति के फलस्वरूप भारत बोध या राष्ट्रीय चेतना का प्रचार–प्रसार हुआ। भारत की समस्त जनता ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की ज्वाला सुलगा दी। अन्ततः एक लम्बी लड़ाई के पश्चात् १५ अगस्त १९४७ के दिन भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई। क्योंकि भारत बोध व हिन्दी साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः राजनीतिक इतिहास के साथ–साथ हिन्दी साहित्य में भी भारत बोध से सम्बन्धित साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया। ऐसे साहित्य में अपने देश के प्रति रागात्मक भाव विशेष की अभिव्यक्ति होती है। जब देश की जनता विदेशी आक्रमण या सामाजिक, राजनीतिक पतन के कारण अपने राष्ट्र के गौरव को भूलने लगती है तो ऐसी स्थिति में साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से जन–जन के हृदय में राष्ट्र के प्रति अनन्य प्रेम की भावना को जागृत करने का सफल प्रयास करता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, रामधारी सिंह "दिनकर" चन्द्रकुंवर, बर्तवाल, पंत, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, प्रेमचंद, यशपाल, अमृतलाल नागर, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान,

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्याम नारायण पाण्डेय, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त इत्यादि कवि लेखकों ने राष्ट्रप्रेम की कविताएँ लिखी, राष्ट्रीय नाटक लिखे। प्राचीन संस्कृति से सम्बन्धित व समाज में हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध कहानियों और उपन्यासों की रचना की। साहित्यकार की लेखनी सफल होने के साथ ही साथ प्रेरक बनकर समाज में कई महान परिवर्तन कर डालती है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि हिन्दी के साहित्यकारों की लेखनी ने समूचे भारत में देश-प्रेम की लहर जगायी। भारतेन्दु युगीन कवियों की बात करें तो इनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रताप नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, राधा कृष्ण दास इत्यादि की कविताओंमें हमें भारत बोध के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारत की दुर्दशा का चित्रण करते हुए भारत दुर्दशा, अन्धेर नगरी आदि नाटकों की रचना की। साथ ही इन्होंने राजभक्ति परक रचनाओं, विदेशी बहिष्कार, आतीत का गौरव गान व राष्ट्रभाषा प्रेम आदि रचनाओं के माध्यम से भी भारत की दुर्दशा का चित्रण किया है। इनकी राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत रचनाओं में भारत विरत्व, विजय वल्लरी, विजयनी विजय वैजयन्ती, भारत भिक्षा, प्रबोधिश्री आदि प्रमुख हैं। भारत की दुर्दशा का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं कि–

रोवहु सब मिली आवहु भारत भाई
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।[२]

साथ ही मातृभाषा की उन्नति को उन्होंने सभी उन्नति का मूल स्वीकारते हुए लिखा है कि–

निज भाषा उन्नति अहै,
सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के,
मिटे न हिय कौ सूल।[३]

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य में भारत बोध के प्रणेता रचनाकारों में अप्रतिम स्थान रखते हैं। इन्होंने न केवल भारत बोध या राष्ट्रीय चेतना परक कविताएँ लिखी, बल्कि अपने साहित्य तथा विभिन्न संस्थानों व सम्पूर्ण देश के भ्रमण के द्वारा मातृभाषा हिन्दी, भारतीय मातृभूमि, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा हेतु जन-जन में एक नवीन चेतना का संचार करने जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये। इनकी भारत बोध से ओत-प्रोत रचनाओं का प्रभाव न केवल इनके समकालीन रचनाकारों बल्कि द्विवेदी युगीन रचनाकारों में भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। प्रोफेसर रामचन्द्र श्रीवास्तव ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विषय में लिखा है कि–"भारतेन्दु ने जिस राष्ट्रीय चेतना के बीज बो दिये थे, उसका उनके समकालीन और परवर्ती कलाकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता का स्थान ही प्रमुख हो गया और आज तो कोई ऐसा उच्च कोटि का कवि नहीं, जिसकी कविता राष्ट्रीयता की भावना से शून्य हो। सच पूछा जाए तो बाबू मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर सरीखे राष्ट्रकवि भारतेन्दु बाबू के प्रसाद के ही फल हैं।"[४]

यदि हम द्विवेदी युगीन काव्य में भारत बोध की बात करें, तो इस युग के लगभग सभी कवियों ने अपने साहित्य में मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम व श्रद्धा भाव को अभिव्यक्ति प्रदान की है। भारत-भारती जो मैथिलीशरण गुप्त की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है, वह राष्ट्रीय हिन्दी कविता की गीता व बाइबिल है। इस रचना से प्रेरित होकर द्विवेदी युग के अन्य कवियों ने भी भारत बोध से सम्बन्धित भरपूर रचनाएँ लिखी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भारत की महिमा का गान करते हुए लिखा है कि–

करते अभिषेक पयोद हैं
बलिहारी उस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही,
सगुण मूर्ति सर्वेश की।

ऐसे ही कवि रामचरित उपाध्याय की निम्न पंक्तियों में भी भारत बोध की भावना कूट-कूट कर भरी हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अपनी जन्मभूमि के प्रति अटूट प्रीति को निम्न शब्दों के माध्यम से व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि–

नहीं स्वर्ग की चाह मुझे है,
नहीं नरक की भीति।
बढ़ती रहे सदा मेरी बस,
जन्मभूमि में प्रीति।[६]

ऐसे ही छायावाद व छायावादोत्तर हिन्दी कवियों एवं साथ ही साथ समकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में भी भारत बोध या राष्ट्रीय चेतना की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। छायावादी कवियों ने न केवल रूमानी भावों की अभिव्यक्ति की है, बल्कि भारत बोध जागृत करने वाली ऐसी ऊर्जावान रचनाएँ लिखी हैं, जिनसे कि व्यक्ति स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े। कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की ही बात करें तो इन्होंने न केवल कलम ही चलाई बल्कि देश की आजादी की लड़ाई में भी इन्होंने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। सन् १८५७ की क्रान्ति में योगदान देने वाली सर्वश्रेष्ठ वीरांगना झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई जिनके नाम से ही फिरंगी काँपते थे, उन पर लिखी गई झाँसी की रानी शीर्षक कविता सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रसिद्धि का आधार है। वे लिखती हैं कि–

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी।
बुंदेले हरबोलो के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।[७]

रानी लक्ष्मी बाई के बलिदान के समक्ष सुभद्रा जी स्वयं के त्याग व बलिदान कोा तुच्छ ही मानती रही। अपनी 'विदा' शीर्षक कविता में सुभद्रा कुमारी चौहान ने स्वतन्त्रता संग्राम के महानायक गाँधी जी, लाल लाजपत राय, तिलक इत्यादि राष्ट्रवीरों के कर्मों से जो देश में एक नई राष्ट्रीय चेतना का प्रस्फुटन

हुआ उसका सविस्तार वर्णन करते हुए लिखा है कि–

तिलक लाजपत गाँधी जी भी बंदी कितनी बार हुए।
जेल गए जनता ने पूजा संकट में अवतार हुए।
जेल हमारे मनमोहन के प्यारे पावन जन्म स्थान।
तुझको सदा तीर्थ मानेगा कृष्ण भक्त यह हिन्दुस्तान।[८]

हर पराधीन देश में भारत बोध की भावना का उदय पुनरुत्थान भावना से होता है। अंग्रेजों ने भारतीयों के आत्म–गौरव को ठेस पहुँचाने का हर सम्भव प्रयास किया। भारतीयों को बर्बर असभ्य कहकर हमारी सांस्कृतिक परम्परा को तुच्छ ठहराया व हर तरह से भारत के इतिहास को विकृत करने की पूर्ण कोशिश की। विरोध में देशवासियों ने अपनी वर्तमान पराधीनता के अपमान को भूलने के लिए अतीत के स्वर्ण युग का सहारा लिया। अतीत की जीत से वर्तमान की हार का मुँह तोड़ जवाब दिया। इस प्रकार जो जातिय विखण्डनता वर्तमान में व्याप्त थी वह अतीत की पृष्ठभूमि पाकर एक सूत्र में बँध गई। इस प्रकार अतीत के पुनरुत्थान ने सम्पूर्ण देश में एक जातीय भावना को जगाकर भारतबोध का सूत्रपात किया। पुनरुत्थान की यह भावना हमें जयशंकर प्रसाद में सबसे अधिक देखने को मिलती है।

अपने ऐतिहासिक नाटक जैसे चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त इत्यादि के माध्यम से उन्होंने जातीय जागरण एवं भारत में अपना अमूल्य योगदान दिया। प्रसाद के द्वारा जो भारत बोध जगाने वाले ओजस्वी उद्‌बोधन परकगीत लिखे गए, वैसे गीत शायद ही किसी अन्य युग के कवियों ने लिखे हों। अपने भावपूर्ण शब्दों द्वारा देश की विरासत व श्री समृद्धि की बात करते हुए प्रसाद लिखते हैं कि–

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।[९]

प्रसाद विश्व बन्धुत्व के पक्षधर थे। उनकी कविताओं से भारतबोध या राष्ट्रीयता का भाव ध्वनित रूप में अलंकृत होता है। छायावादी कवि निराला की बात करें तो उनकी रचनाओं में हमें जो राष्ट्रीय भावना देखने को मिलती है, वह उग्र क्रान्ति से परिपूर्ण है, जो की राष्ट्रीयता के अन्तःकरण को झंकृत कर डालती है। जिससे कि सब समान, सम्पन्न, सम्प्रभु व संवेदनशील हों, किन्तु वास्तविकता इसके ठीक विपरीत थी। महाकवि ने अपनी जागो फिर एक बार कविता के माध्यम से आम आदमी को नवजागरण का सन्देश देते हुए उनकी सोई हुई चेतना को जागृत करने का भरसक प्रयास करते हुए लिखा है कि–

जागो फिर एक बर
पशु नहीं वीर तुम
समर शूर क्रूर नहीं,

कालचक्र में ही दबे आज तुम राजकुंवर।
समर सरताज।[१०]

सन् १९४२ तक जब भारत स्वतन्त्रता के बहुत करीब आ गया था तब उस समय देश में आजाद हिन्द फौज का प्रभाव लगातार बढ़ने लगा। हमारा देश गाँधी से सुभाष की ओर झुकने लगा। यह वह समय था जब गाँधी ने स्वयं ही करो या मरो का नारा देश को दे दिया। सभी वे परिस्थितियाँ थी जो कि रामधारी सिंह दिनकर के भावों को उद्वेलित करने के लिए पर्याप्त थी। दिनकर अपनी कविताओं में देश के लिए सब कुछ त्याग कर आत्म-बलिदान देने का आह्वान करने लगे। दिनकर केवल अतीत का ही गौरव गान नहीं करते, बल्कि जन-जागरण का कार्य भी करते हैं। यह समय के साथ चलने वाले कवि रहे हैं। इनकी प्रणति शीर्षक कविता की चंद पंक्तियाँ द्रष्टव्य भी हैं, जो भारत बोध जागृत करने के लिए धारदार हथियार के समान सिद्ध हुई हैं–

कलम आज उनकी जय बोल!
जला अस्थियाँ बारी बारी,
चिटकाई जिसने चिंगारी,
जो चढ़ गए पुण्य वेदी पर
लिए बिना गर्दन का मोल
कलम, आज उनकी जय बोल।[११]

दिनकर जहाँ एक तरफ मनुष्य के अन्दर चरित्र बल भरने की बात करते हैं, वही इस आहत वसुधा में सुमन खिलाने की बात भी करते हुए लिखते हैं कि–

प्रेरित करो इतर प्राणी को,
निज चरित्र के बल से
भरो पुण्य की किरण प्रजा में
अपने ताप निर्मल से।[१२]

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवि माखनलाल चतुर्वेदी जी की बात करें तो वे सच्चे अर्थों में देश-प्रेमी व असहयोग आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेकर जेल जाने वाले तथा जेल में ही रहकर लिखी गई कविता पुष्प की अभिलाषा में मातृभूमि की रक्षा के लिए भारतीयों से आत्मसमर्पण का आवाहन करते हुए लिखते हैं कि, पुष्प की अभिलाषा यही है कि जो वीर देश के लिए बलिदान देने को तैयार हैं, वह उनके मार्ग में बिछकर उनके मार्ग को सुगम बना दे।

गाँधी जी एवं विनोबा भावे के व्यक्तित्व एवं विचारों का भी माखनलाल चतुर्वेदी पर गहरा प्रभाव पड़ा। चतुर्वेदी जी की भारत बोध से ओत-प्रोत कविताओं में कहीं भारत माता की वन्दना देखने को मिलती है, तो कहीं शक्ति वह उत्साह। साथ ही साथ गुलामी झेल रहे देश की पीड़ा की भी मुखर अभिव्यक्ति इनके काव्य में हुई है की कविताएँ इसलिए इतनी सजीव प्रेरणा मई वह ओजस्वी हैं क्योंकि

इन्होंने स्वयं स्वराज्य प्राप्ति के आन्दोलनों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। अपनी तिलक शीर्षक कविता में इन्होंने भारत बोध का आह्वान करते हुए लिखा है कि–

बंदी होवे वह दयाहीन
तू भारतीय आजाद रहे।
वह स्वर्ग टूट कर गिर जाए,
यह आर्य भूमि आबाद रहे।।[१५]

एक देश में रहने वाले, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के हर एक क्षेत्र जैसे साहित्य, शिक्षा, मनोरंजन, कला, सुख-दुःख, रीति-रिवाज में उसकी सजगता व स्वतन्त्रता को राष्ट्रवाद की चेतना से विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इस चेतना से ही वर्तमान का परिचय होता है। अतीत का साहित्य पूर्वजों की जीवन गाथा व उनके बताए हुए पद-चिह्नों पर चलकर ही एक उन्नत राष्ट्र की परिकल्पना को साकार किया जा सकता है। चाहे कोई किसी भी जाति, किसी भी धर्म या किसी भी भाषा क्षेत्र का क्यों न हो, राष्ट्र के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान अवश्य सम्मिलित रहता है। भारत बोध की चेतना जलाने में राष्ट्र के प्रत्येक क्रान्तिकारी व साहित्यकार की एक विशिष्ट पहचान रही है। प्रत्येक वर्ग के एकजुट होकर हमारे भारत को आजादी का सूरज दिखाया। न्याय के बलबूते पर ही राष्ट्र या भारत बोध की अखण्डता को बनाये रखा जा सकता है। कवि अजय शर्मा की हमेशा यही आरजू रही है कि हमें अपने पूर्वजों की शहादत को कभी नहीं भुलाना है। उन्हें याद करते हुए हमें एक प्यार का दीपक अपने हृदय में सदैव जलाए रखना चाहिए। वे लिखते हैं–

मिला है बाद संघर्षों के,
ये उत्सव आजादी का,
लगे हर कली इठलाती
खिला हर फूल वादी का।
मगर रंग जिने दिया है चमन को,
शहादत को उनकी नहीं भूल जाएँ,
चलो प्यार का एक दिया हम भी जलाएँ।[१६]

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर हम सभी को राष्ट्र के हितार्थ सर्वस्व त्याग व बलिदान देना चाहिए। विश्व के महान से महान दार्शनिक एवं विचारकों का भी अन्तिम लक्ष्य विश्वकल्याण ही रहा है। हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम सिर्फ संकटों की मुक्ति के लिए क्रान्ति न करके संसार में उत्पन्न समस्त विषमताओं को जड़ से समाप्त कर प्रत्येक भारतवासी के हृदय में भारत बोध की चेतना का दिया जलाएँ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. पूर्व स्वतन्त्रता कविता में राष्ट्रीय एकता–श्रीकृष्ण भावुक, पृ० २३
२. हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास–डॉ० क्रान्ति कुमार शर्मा, पृ० १५०

३. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड)–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ७३
४. भारतेन्दु काव्यामृत–प्रो० रामचन्द्र 'श्रीवास्तव चंद', (१९७३), पृ० २१३
५. आधुनिक हिन्दी काव्य–भागीरथ मिश्र, पृ० १६९
६. राष्ट्रभारती–रामचरित उपाध्याय, पृ० १५
७. चर्चित राष्ट्रीय गीता–नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, पृ० ८६-८७
८. सुभद्रा कुमारी चौहान–मुकुल, पृ० ९०
९. आधुनिक काव्य में राष्ट्रीय चेतना–सम्पादक डॉ० पायल लिल्हारे एवं श्याम मोहन पटेल, पृ० २१
१०. राम विराग–सम्पादक रामविलास शर्मा, पृ० ५९
११. दिनकर रचनावली (भाग १)–सम्पादक नन्दकिशोर नवल एवं तरुण कुमार, पृ० १३५
१२. कुरुक्षेत्र–रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ० १०७
१३. https:/kaavyaalaya.org/pushp kee abhilzaashaa.
१५. आधुनिक काव्य में राष्ट्रीय चेतना–सम्पादक डॉ० पायल लिल्हारे एवं डॉ० श्याम मोहन पटेल, पृ० २३

–सहायक प्राध्यापक (हिन्दी-विभाग)
हुकुम सिंह बोरा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
सोमेश्वर, अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड)-२६३६३७
मो०: ७००७३८७१८८
ईमेल : upadhyaybhawna2018@gmail.com

वर्तमान सन्दर्भ में सूरदास के साहित्य की प्रासंगिकता

–डॉ० मुकेश कुमार

साहित्य एवं समाज का परस्पर अटूट सम्बन्ध होता है। प्रत्येक साहित्यकार अपने समाज की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों से सम्बन्ध होता है। फलस्वरूप उसके साहित्य में उस युग का समाज प्रतिबिम्बित होता है और उस साहित्य की प्रासंगिकता युगों-युगों तक बनी रहती है। भक्त कवि सूरदास ऐसे ही साहित्यकारों में एक महान विभूति हैं जिनकी रचनाओं की प्रासंगिकता आज भी है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना के मार्ग ज्ञान और कर्म को कठिन मानते हुए आधुनिक समाज भी उस अनन्त अविनाशी भगवान श्रीकृष्ण के सगुण रूप की उपासना करता है। यह पूरा संसार उस घट-घट व्यापी ब्रह्म से प्रकट होकर फिर उन्हीं में समा जाता है। मुक्ति मार्ग के तीनों साधन भक्ति, ज्ञान और योग में भक्ति को ही सर्वोपरि माना जाता है। श्रीकृष्ण की आराधना करते हुए आधुनिक समाज में अन्य देवी-देवताओं की भी उपासना की जाती है, इन देवताओं में मुख्य हैं–ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, इन्द्र, वरुण, शेषनाग, कामदेव आदि। गोबर्धन पूजा में गाँव की स्त्रियाँ गोबर का गोवर्धन बनाकर उसकी पूजा करती हैं। देवियों में दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती एवं रति आदि की उपासना की जाती है। इनके अतिरिक्त कामधेनु, ऐरावत आदि भी आधुनिक समाज में पूज्य हैं। सूर कालीन समाज की तरह पूजा के अवसर पर आरती करने का भी प्रचलन है। कुछ देवियों की पूजा करते समय लोगों द्वारा पशु बलि भी दी जाती है। यज्ञ की पूर्णाहुति पर होम या हवन किया जाता है। सूर्य ग्रहण एवं चन्द्रग्रहण के अवसर पर लोग पवित्र नदियों में स्नान करते हैं और दान देते हैं। वेद एवं श्रुति की ऋचाओं को सभी धर्म ग्रन्थों में पवित्र और बड़ा माना जाता है।

सूरकालीन समाज की भाँति वर्तमान समाज में भी मुनि, योगी, तपस्वी, सिद्ध, वैरागी, दिगम्बर आदि धर्म, कर्म में रत हैं। इनका स्थान समाज में महत्त्वपूर्ण है। समाज में इन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। सिद्ध लोग गुफा के अन्दर आसन लगाकर ध्यान लगाते हैं तथा पावन साधना करते हुए समाधि लगाते हैं। कुछ तपस्वी तप-साधना में शीर्षासन लगाकर तपस्या करते हैं। योग की साधना करने वाले को योगी कहा जाता है। वर्तमान समाज में कुछ दिगम्बर साधु भी हैं जो नंगे रहते हैं, वस्त्र नहीं धारण करते हैं। समाज में योग साधना का बहुत महत्त्व है। यहाँ पर हम सूरदास द्वारा रचित अनेक परिस्थितियों का वर्तमान सन्दर्भ में मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

सूरदास ने अपने काव्य 'सूरसागर' में पुत्र जन्मोत्सव का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। नन्द के घर पुत्र पैदा हुआ, यह समाचार सुनते ही ब्रज की गोपियाँ उनके घर इकट्ठा होकर सुन्दर एवं मांगलिक बधाई गीत गाती हैं। ब्रज वधू गोप कन्याएँ एक-दूसरे के पति का नाम लेकर परस्पर गाली सुनाती हैं। गोपियाँ

हल्दी, दूब और दही लेकर सबको तिलक लगाती हैं। कोई चन्दन से चौक लीप कर आरती सँजोती हैं तो कोई सींक बनाकर द्वार पर सतिए देती हैं और प्रसन्न होकर यशोदा के पैर छूती हैं। इसी सन्दर्भ मे सूरदास जी लिखते हैं–

बहुत नारि सुहाग सुंदर और घोष कुमारी।
सजन प्रीतम नाम लै-लै दै परस्पर गारि।।
हरद, अक्षत, दूब, दधि लै, तिलक करैं ब्रज बाल।
कहति घोष कुमारि, ऐसौ आनन्द जो नित होइ।।
द्वार साथियाँ देति स्यामा, सात सीक बनाइ।
नव किसोरी मुदित ह्वै-ह्वै गहति यशुदा पाइ।।[१]

पुत्र जन्मोत्सव का प्रचलन आज भी है, जो मनाया जाता है। पुत्र जन्म के बाद नाइन द्वारा गाँव के लोगों के यहाँ बुलावा भेजकर सबको बुलाया जाता है। गाँव की स्त्रियाँ एकत्रित होकर मंगलगान के रूप में सोहर गाती हैं। ब्राह्मणों तथा याचकों को दान दिया जाता है। घर तथा आँगन को लीप कर आरती सजाई जाती है और चौक पूर बनाकर पूजा–पाठ कराया जाता है। सब लोग पुत्र को आशीर्वाद देते हैं। इस अवसर पर सगे–सम्बन्धी एवं गाँव के लोगों को भोजन करवाया जाता है। पुत्र के माता–पिता प्रसन्न होकर सबको मिठाइयाँ बाँटते हैं।

सूरदास जी ने 'सूरसागर' में अत्यन्त विस्तार के साथ नाल छेदन का वर्णन भी किया है। यशोदा के घर पुत्र पैदा हुआ है, यह खबर सुनते ही झगरिनि यशोदा के घर आती है और यशोदा से कहती है कि जब तक तुम मणियों से जटित अपने गले का हार नहीं दोगी, तब तक मैं नाल नहीं काटूँगी। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

यशोदा, नार न छेदन देहौं।
मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ,
यह आजु हौं लैहौं।
सगरिनि तै हौ बहुत खिझाई,
कंचनहार दिये नाहिं मानति तुम अनोखी दाई।
बेगिहिं मार छेदि बालक कौ, जाति बयार भराई।।[२]

आज भी जब किसी के यहाँ पुत्र पैदा होता है तो वह व्यक्ति बालक का नार काटने के लिए झगरिनि (दाई) को बुलाता है। झगरिनि बालक की माता से बहुत–सा नेग लेने के लिए हठ करती है। वह नेग के रूप में बालक की माता से अनेक प्रकार के आभूषण माँगती हैं, जिससे बालक की माता उस पर क्रोधित होती है और झगरिनि को अनेक वस्तुएँ उपहार स्वरूप देती हैं, तब वह प्रसन्न होकर बालक का नार काटती हैं और उसे आशीर्वाद देती हैं।

सूरदास ने 'सूरसागर' में नामकरण का वर्णन भी किया है। इस अवसर पर गर्ग ऋषि के आने उनका चरण लेने एवं अर्घ्य देने का वर्णन मिलना है। ग्रह-नक्षत्र आदि की गणनाकरके ऋषि कृष्ण के लक्षण बताते हैं। रंग से कृष्ण होने तथा ऐश्वर्यशाली होने के साथ ही बहुत सुख भोगने एवं ऊँच-नील विभिन्न स्त्रियों से विवाह करके अनेक पुत्र पैदा करने की बात बताते हैं। आगे ऋषिगण बताते हैं कि यह बालक बड़ा होने पर कंस आदि शत्रुओं का संहार कर पूरी पृथ्वी पर विजय प्राप्त करेगा। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

संवत् सरस विभावन भादों, आठैं तिथि बुधवार।
कृष्ण पक्ष रोहिणी अर्द्ध निसि, हर्षन जोग उदार।।
वृष है लग्न उच्च के निसिपति, तनहिं बहुत सुख वैहें।
चौथे सिह रासि के दिनकर जीति सकल महि लेहैं।।[४]

नामकरण संस्कार का प्रचलन आज के समय में थोड़ा कम-सा हो गया है। लोग अनेक नामों से सम्बोधित करतेहैं। बाद में उसका कोई कागजी नाम निश्चित किया जाता है। परन्तु गिने-चुने कुछ परिवारों में इस समय भी बालक जन्म के ग्यारहवें दिन किसी ज्योतिषी या पुरोहित को बुलाकर बालक का नामकरण करवाया जाता है। पुरोहित ग्रह-नक्षत्र आदि की गणना करके बालक के भावी जीवन के विषय में बताता है तथा बालक का एक सुन्दर नामकरण करता है।

सूरदास ने 'सूरसागर' में कृष्ण की वर्षगाँठ का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। इस अवसर पर माता यशोदा अत्यन्त प्रसन्न होकर कृष्ण के शरीर में उबटन लगाकर उन्हें स्नान कराती हैं। स्नान के बाद कृष्ण के गले में मणियों की बनी माला एवं शरीर अनेक आभूषण पहनाए जाते हैं। सिर पर चैतनी, ललाट पर डिठौना एवं आँखों में काजल लगाया जाता है। यशोदा सखियों को बुलाकर मंगलगान कराती हैं। आँगन को चन्दन से लीप कर मोतियों से चौक पूरा जाता है। इस अवसर पर बाजे बजाते हैं और भोज दिया जाता है। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

अरी मेरे लाल की आजु बरष-गाठि सबै,
सखिनि को बुलाई मंगल गान करावै।
चन्दन आँगन लिपाई, मुतियन चौंके पुराई,
उमगि अँगनि आनन्द सौ, तूर बजावें।।
मेरे कहै बिपुनि बुलाइ, एक सुभ घरी धराइ,
अछत, दूब, दल बधाइ, लालन की गाँठि जुराई।।[४]

वर्तमान समय में भी हमारे समाज में इस प्रकार का प्रचलन है। बालकों की वर्षगाँठ बहुत उत्साह व प्रसन्नता के साथ सम्पन्न कराती जाती है। इस अवसर पर बाल को स्नान कराकर उसे वस्त्र तथा आभूषण से सजाया जाता है। गाँव की स्त्रियों को बुलाकर मंगलगान कराया जाता है। आँगन कोलीप कर चौक पूरा जाता है। ब्राह्मण को बुलाकर शुभ घड़ी में वर्षगाँठ सम्पन्न करायी जाती है तथा अवस्था सूचक

धागे में एक गाँठ दे दी जाती है। इस अवसर पर भोजन करवाया जाता है।

सूरदास जी ने 'सूरसागर' में कर्ण छेदन का भी वर्णन किया है। जब श्रीकृष्ण का कर्ण छेदन संस्कार किया जाता है तब यशोदा के हृदय में धुकधुकी होने लगती है। कृष्ण के कानों में हरिद्वार का चूर्ण मला जाता है। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

काह कुँवर कौ कन छेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की,
विधि विहँसत हरि हँसत हेरि-हरि जसुमति की धुकधुकी सु उर की,
रोचन भरि हौ देत सींक सौं, सवन निकट अतिही पातुर की,
कंचन के है दुर मंगाइ लिए, कहौं कहाँ छेदनि आतुर की।।
लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कन छेदन देखत जिय मुरकी,
रोपत देखि जननि अकुलानि, दियौ तुरंत नौआ कौ घुरकी।।[५]

प्रातःकाल कृष्ण को जगाती हुई यशोदा बार–बार कहती है कि हे पुत्र उठो अब सबेरा हो गया है। यशोदा कृष्ण के सुन्दर मुख को धोकर कलेउ करने को कहती है। अंजुली में जल लेकर उनका मुख धोती है तथा खाने के लिए माखन, दूध, रोटी, मेवा, मिश्री आदि देती है। कृष्ण कभी पीताम्बर ओढ़ लेते हैं तो कभी आँख खोलकर माता की तरफ देख लेते हैं। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

जागिए गोपाल लाल, आनंद निधि नंद बाल।
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयै प्यारे।।
झारी के जल बदन पखारौ, सुख करि सारंग पानी।
माखन रोटी अरु मधु मेवा जो भावै लेउ आनी।।[६]

वर्तमान समय में भी माता अपने बालक को जगाती हुई बार–बार यह कहती हैं कि हे पुत्र उठो सबेरा हो गया, वह बालक को बहुत देर तक सोने से मना करती हैं। माता के बार–बार जगाने पर भी बालक मुख ढक कर सो जाता है और कभी–कभी आँखें खोलकर माँ की ओर देख भी लेता है।

सूरदास ने कृष्ण द्वारा गो दोहन सीखने का वर्णन किया है। कृष्ण ग्वालों से कहते हैं कि तुम लोग मुझे दूध दूहना सिखाओ मैं गायों को दुहूँगा। किस प्रकार तुम दोहनी घुटनों में पकड़ते हो और बछड़े को छोड़कर कैसे थन से लगाते हो। किस प्रकार नोई से गाय का पैर बाँधते हो तथा कैसे दूध की धार बजती है, यह सब कुछ मुझे बताओ। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

मैं दुहिहौं मोहि दुहन सिखावहु,
कैसे गहत दोहनी घुटुवनि कैसे बछरा थन लै लावहु।
कैसे ले नोई पग बाँधत।[७]

वर्तमान समय में भी परिवार के किसी व्यक्ति द्वारा कोई कार्य करते देखकर बालक स्वभाववश वहाँ पहुँच जाते हैं और स्वयं भी उस कार्य को करने के लिए हठ करने लगते हैं। वे बार–बार पूछते हैं कि आप यह कार्य कैसे कर रहे हैं। मुझे भी सीखा दें। मैं भी यह कार्य करूँ।

रास के अन्तर्गत ही राधा-कृष्ण के गन्धर्व विवाह का वर्णन सूर ने विस्तार से किया है। कृष्ण बाँसुरी की ध्वनि द्वारा नेवता भेजकर गोपियों को बुलाते हैं। गोपियाँ अनेक प्रकार से मंगल गीत गाती हुई नये फूलों का मण्डप बनाती हैं। बंदीजन यशगान करते हैं एवं मधवा आनन्दित होकर बाजे बजाते हैं। विवाह मण्डप के बीच चन्दन के पीढ़ा पर राधा-कृष्ण बैठते हैं। नेवते में आयी हुयी गोपियाँ आनन्दित होकर गाली देती हैं। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

गोपीजन सब नेवते आई,
मुरलि धुनि तै पठइ बुलाई,
बहु विधि आनंद मंगल गाए,
नव फूलनि के मंडप छाए।[८]

वर्तमान समय में भी विवाह के अवसर पर अपने सगे सम्बन्धी तथा गाँव के लोगों को बुलावा भेजकर बुलाया जाता है। स्त्रियाँ मंगलगीत गाती हैं। मण्डप बनाया जाता है, जिसे फूलों आदि से सजाया जाता है। अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं। याचकगण यशगान करते हैं।

सूरदास के कृष्ण ने समाज द्वारा तिरस्कृत अनेक स्त्रियों को अपना कर या उनकी सहायता कर सामाजिक मानवतावाद की रक्षा की है जैसे नारी चौर्य में दक्ष भौंमासुर ने अनेक विवाहिंत, अविवाहित बालाओं का अपहरण करके उन्हें अपने अन्तःपुर में रोक रखा था। कृष्ण ने भौंमासुर को मारकर सिंह पाश में पड़ी उन हिरणियों को मुक्त किया और समाज में उन्हें पुनः सम्मानपूर्ण स्थान देने के लिए उनके साथ विवाह किया। इसी प्रकार समाज कुरूप एवं विकलांग कुब्जा के प्रेम को स्वीकार कर कृष्ण ने मानवतावाद की रक्षा की है।

अखण्ड भारत में प्राचीन काल से ही मानव का मूल्यांकन मानव के रूप में करके मानवतावाद की रक्षा की गई और आधुनिक समाज में भी की जा रही है। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

कूबरी नारि सुन्दरी कीन्हीं।
तुरत झोई भई नहिं जाति कीन्हीं।।[९]

सूरदास ने तत्कालीन समाज के कुछ पर्व-त्योहारों का वर्णन अपने ग्रन्थ 'सूरसागर' में किया है। जैसे दीपावली, रामनवमीं, जन्माष्टमी, होली, रक्षा बन्धन आदि। यह पर्व वर्तमान समय में भी मनाए जाते हैं। इसी सन्दर्भ में सूरदास जी लिखते हैं–

आणें कृष्ण पच्छ भादों।
महरकै दधि कादों।।[१०]

निष्कर्ष–सारांश रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान सन्दर्भ में सूरदास के साहित्य की उपयोगिता मानव जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस आदर्श सम्पन्न, समता मूलक, द्वेष रहित समाज की कल्पना हम कर रहे हैं उसकी प्राप्ति का सिद्ध मंत्र 'सूरसागर' में उपलब्ध है। यदि वर्तमान

समाज 'सूरसागर' में वर्णित श्रीकृष्ण की लीलाओं को आदर्श मानकर आचरण करने लगे तो समाज में सम्पन्नता, समानता सम्भव हो सकती है। आज के दौर में सूर साहित्य की प्रासंगिकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ६४४
२. वही, पृ० ६३४
३. वही, पृ० ७०४
४. वही, पृ० ७१३
५. वही, पृ० ७९८
६. वही, पृ० ८२६
७. वही, पृ० १०९
८. वही, पृ० १६९०
९. वही, पृ० ६७०
१०. वही, पृ० ६४९

–हिन्दी-विभाग
डी०ए०वी० (पी०जी०) कॉलेज,
करनाल, हरियाणा
मो० : ९८९६००४६८०

मुक्तिबोध की कालजयी कृति ब्रह्मराक्षस : शिल्पगत वैशिष्ट्य

–सुशान्त कुमार यादव

मुक्तिबोध नई कविता के प्रतिनिधि कवि हैं। आधुनिक जीवन मूल्यों की सशक्त और जीवन्त अभिव्यक्ति मुक्तिबोध के काव्य की विशेषता है। उनकी कविता में आधुनिक समाज की विसंगतियों तथा विडम्बनाओं का चित्रण करने केलिए ऐसे विषयों एवं सन्दर्भों का चयन किया गया है, जो जीवन की वास्तविकता से सम्बन्ध रखते हैं और पूर्णतः नये हैं। 'औद्योगिक युग के प्रभावों तथा बदलते हुए परिवेश के सम्पूर्ण सन्दर्भों को एक नया आयाम देने की उनकी कवि–चेष्टा निःसन्देह सराहनीय है। उनकी कविता में एक गहन अन्तर्वेदना है, भावों के ज्वार के पीछे विचारों की गहनता है तथा कोरी भावुकता के स्थान पर गम्भीर बौद्धिकता है।'[१]

मुक्तिबोध की रचनाओं में एक स्वस्थ्य सामाजिक चेतना, लोकमंगल भावना तथा जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण विद्यमान है। समाज, राजनीति धर्म, इतिहास, साहित्य आदि सभी विषयों पर उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। वस्तुतः उनकी कविता अनेक स्वरों से गुम्फित है। दशहत, त्रास, खौफ, अकेलापन, आस्था, अनास्था, तड़पन, अकुलाहट, शंका, विश्वास, सादगी, तनाव, टेढ़ापन, टूटन, जोड़ आदि उनकी रचनाओं में विद्यमान है। 'मुक्तिबोध की कविताओं में क्षणवाद के स्थान पर शाश्वत आशावाद जीवन की कुरूपता और नश्वरता के स्थान पर उसकी सुन्दरता और गतिशीलता, निराशा के स्थान पर आस्था तथा व्यक्ति के अहम् के स्थान पर समष्टिगत चेतना चित्रित है।[२] काव्यसृजन के प्रति मुक्तिबोध का नजरिया सदैव प्रगतिशील रहा है। अतः उन्हें आधुनिक हिन्दी कविता के किसी वाद के संकीर्ण कटघरे में आबद्ध करना उचित नहीं है। मुक्तिबोध पर टालस्टाय, बर्गसॉ और मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव है।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' एवं 'भूरी भूरी खाक–धूल' शीर्षक काव्य मुक्तिबोध की कविताओं के संकलन हैं। कुछ कविताओं 'तारसप्तक' में भी प्रकाशित हुई हैं। इन कविताओं में पर्याप्त विषय वैविध्य है। मुक्तिबोध अपने कवि और काव्य व्यक्तित्व को पृथक् करने वाले न थे। जिन्दगी के एक–एक संघर्ष और तनाव को वे एक बार जीवन में जीते थे और दुबारा अपनी कविताओं में। आलोचकों ने उनके काव्य का मूल्यांकन विविध दृष्टियों से किया है। कभी बिम्ब और प्रतीक विधान की दृष्टि से, कभी फैंटेंसी की दृष्टि से, कभी संगति विरोध के आधार पर तो कभी रहस्यात्मक आधार पर। 'मुक्बिोध नंददास' की भाँति न जडिया है और मध्यकालीन कवियों की भाँति गढ़िया है। वे तो एक लोहार है जो एक ही चोट

में अपनी बात कह देते हैं। वे आत्मा, शरीर विचार और व्यवहार से कवि हैं। वे सच्चे अर्थों में एक अनुभूतिशील कवि हैं।[३] उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही काव्य है। वे फैंटेंसी अपनाने के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं–

मैं विचरण करता हूँ एक फैंटेंसी में,
यह निश्चित है कि फैंटेंसी कल वास्तव होगी।

'ब्रह्मराक्षस' कविता मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में से एक फैटेन्सी से युक्त प्रसिद्ध कविता है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता मुक्तिबोध सबसे पहले अप्रैल १९५७ में बनारस से प्रकाशित होने वाली 'कवि' पत्रिका अंक में छपी थी। तदुपरान्त १९६४ में यह कविता मुक्तिबोध के पहले कविता संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में कुछ संशोधन के साथ प्रकाशित हुई।[४] आकार की दृष्टि से तो यह कविता लम्बी नही है लेकिन स्वरूपगत दृष्टि से यह कविता लम्बी मानी जा सकती है।

इस कविता ने कविवर मुक्तिबोध ने प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को बड़े ही सशक्त ढंग से 'ब्रह्मराक्षस' का रूप देकर एक रूपात्मक फैंटेंसी का निर्माण किया है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता को मुख्य रूप से दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। एक ब्रह्मराक्षस के रहने का स्थान, उसका व्यवहार तथा दूसरे खण्ड में उसके पाप कर्मों का स्पष्ट वर्णन है, जिसकी वजह से उसकी प्रेत–योनि प्राप्त हुई तथा 'ब्रह्मराक्षस' नाम से अभिहित हुआ।[५]

वस्तुतः 'ब्रह्मराक्षस' एक विचार प्रधान कविता है। कविता का प्रारम्भ 'ब्रह्मराक्षस' के निवास स्थान से होता है, यह कहा जाता है कि निर्जन सुनसान वीरान, भयावह वातावरण वाले स्थानों पर 'ब्रह्मराक्षस' वादियों का निवासस्थान होता है।

ब्रह्मराक्षस अपनी संरचना में 'लम्बी कविता' है। हालाँकि यह अन्य लम्बी कविताओं से छोटे आकार की है। नई कविता के दौर में लम्बी कविताओं के एक नये रूप का विकास हुआ, जिसे वस्तुपरक लम्बी कविताएँ कहा गया है। ये कविताएँ छायावाद की लम्बी कविताओं की तरह भाव–श्रृंखला के कारण लम्बी नहीं होती, बल्कि किसी वास्तविक समस्या का सम्पूर्णता में विश्लेषण करने के प्रयास में लम्बी हो जाती है। मुक्तिबोध ने स्वयं अपनी कविताओं की लम्बाई के विषय में कहा है–"यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुम्फित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं, वे वस्तुतः छोटी होकर अधूरी होती हैं।"[६]

भाषा–मुक्तिबोध ने भाषा के साथ प्रयोग किये हैं, क्योंकि परम्परा द्वारा प्रदत्त भाषा उन्हें स्वीकार नहीं है। 'परम्परा से उन्हें छायावाद भाषा मिली थी, जिसकी कोमलकांत पदावली प्रगीतात्मक रचनाओं के लिए प्रभावशाली होते हुए भी वस्तुपरक यथार्थ के प्रसंगों को धारण करने में असमर्थ थी। 'अँधेरे में' कविता में उन्होंने स्पष्टतः ऐसी भाषा को अस्वीकार किया है।[७]

अरे! इन रंगीन पत्थर फूलों से, मेरा काम नहीं चलेगा,
काव्य चमत्कार उतना ही रंगीन, किंतु अतिशय शीतल।

अभिव्यक्ति यदि सच्ची और खरी हो, तो वह खतरे से खाली न होगी। पूँजीवादी व्यवस्था में 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एक आकर्षक प्रचार मात्र है। 'मुक्तिबोध इस व्यवस्था की विसंगतियों से सुपरिचित है। उन्होंने अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की बात 'अँधेरे में' कविता में की है।'[८] वहाँ वे खुलकर बाहर आते हैं–

कविता में कहने की आदत नहीं, पर यह कह दूँ,
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता,
पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता।

मुक्तिबोध की भाषा अत्यन्त विवादास्पद है, लगभग उतनी नहीं जितनी कबीर की भाषा। 'डॉ० रामविलास शर्मा मुक्तिबोध की गाथा की अनगढ़ता पर व्यंग्य करते हुए इसे लक्कड़तोड़ भाषा कहा है।'[९] इसके विपरीत डॉ० नामवर सिंह ने इस भाषा में निहित संभावनाओं की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'यह एक नयी काव्य भाषा है, जो संवेदना में 'अनगढ़' और खुरदुरी होने के बावजूद 'अपनी अर्थवत्ता में जानदार' है।[१०]

मुक्तिबोध की भाषा बहुआयामी है। यह कथ्य के अनुसार विभिन्नरूप धारण करती है। कहीं वह सीधी, सरल और सपाट है तो कहीं अत्यन्त जटिल दुर्गम और बीहड़। कहीं-कहीं यह भाषा अनगढ़ता से भरी है तो कहीं अनुशासन प्रियता से भी चौकाती है। इनकी कविताओं में तत्सम, तद्भव, देशज व विदेशज सारी शब्दावलियों के स्वरूप देखने को मिलता है। जैसे–

(१) गहन किंचित् सफलता अति भव्य असफलता। (तत्सम शैली)।

'मुक्तिबोध के यहाँ ध्वनियों के विशिष्ट प्रयोग से उत्पन्न होने वाला ध्वन्यात्मक या नादात्मक सौन्दर्य भी पर्याप्त मात्रा में नजर आता है।'[११] 'ब्रह्मराक्षस' में नादसौन्दर्य का स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखता है–

हाथ के पंजे बराबर, बाँह-छाती मुँह छपाछप।
खूब करते साफ, फिर भी मैल, फिर भी मैल!

मुक्तिबोध की काव्य भाषा एक नयी काव्यभाषा है, जिसमें छायावाद जैसी कोमलता और प्रगीतात्मकता नहीं है। जो अपनी शाब्दिक संरचना में अनगढ़ है, किन्तु आन्तरिक स्तर पर तेज से भरी है। भाषा की इसी ताकत से प्रभावित होकर डॉ० निर्मला जैन ने इस काव्यभाषा को 'अनगढ़ तेजोदीप्त भाषा' कहा है।

प्रतीक विधान–प्रतीक का शाब्दिक अर्थ 'चिह्न' है। यह अंग्रेजी के सिंबल शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। 'प्रतीक' ऐसे चिह्न अथवा शब्द चिह्न को कहते हैं जिसके माध्यम से अन्य वस्तु का बोध होता है।'[१२] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य का कारण बनती है।[१३]

मुक्तिबोध की कविताओं में प्रतीकात्मक स्वरूप विकसित रूप मिलता है। वे प्रतीकों का प्रयोग

इसलिए नहीं करते कि इससे शिल्पगत सुन्दरता या चमक पैदा होती है, बल्कि इसलिए करते हैं कि जटिल, गतिशील व परस्पर गुम्फित यथार्थ बिना प्रतीकों के व्यक्त नहीं हो पाता।

मुक्तिबोध सामान्यतः 'मिथिकल प्रतीक लेते हैं, परन्तु इसकी सहायता से आधुनिक सन्दर्भों को व्यक्त करते हैं 'ब्रह्मराक्षस' धार्मिक परम्परा का एक प्रतीक है, जिसे मुक्तिबोध ने अपनी जरूरत के अनुसार मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का प्रतीक बना दिया है।[१४] अन्य प्रतीकों में 'बावड़ी' अचेतन या अवचेतन का प्रतीक है जो फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के ढाँचे के अनुसार व्यक्त हुआ है।

किन्तु गहरी बावड़ी, की भीतरी दीवार पर,
तिरछी गिरी रवि-रश्मि, के उड़ते हुए परमाणु जब
तल तक पहुँचते हैं कभी, तब ब्रह्मराक्षस समझता है,
सूर्य ने झुककर 'नमस्ते' कर दिया।

विभिन्न मार्क्सवादी समीक्षकों ने 'ब्रह्मराक्षस' के कुछ प्रतीकों को अपने अनुसार व्याख्या कर दी है–जैसे सूर्य-प्रगतिवादी सभ्यता का प्रतीक है, चन्द्रमा पूँजीवाद का प्रतीक है, सितारे, असंगठित मजदूर वर्ग के प्रतीक हैं, उल्लू-धनी लोग का प्रतीक है। 'लाल फूल' क्रान्ति चेतना का प्रतीक है।

फैंटेंसी शिल्प–'फैंटेंसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द फैंटेंसियाँ' से हुई है, जिसका अर्थ है अवास्तव या अमूर्त दृश्य बनाना।[१५] फैंटेंसी एक काव्य रूप है, जिसमें स्वप्न के माध्यम से यथार्थ का चित्रण किया जाता है जिससे कवि वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। फैंटेंसी को दूसरे शब्दो में स्वप्न कथा कहते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार–'फैंटेंसी अयथार्थ की छलांग नहीं है, बल्कि अनुभव की कन्या है।'[१६]

हिन्दी कवियों में मुक्तिबोध ने फैटेंसी का सर्वाधिक सहारा लिया है। कविता में यथार्थ की निरन्तरता, संश्लिष्टता, विसंगति, अन्तर एवं वाह्य जगत् सभी को एक साथ समेटने के लिए कवि फैंटेसी का सहारा लेता है। मुक्तिबोध के ही शब्दों में–'कवि की यह फैंटेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ अनुषंग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्सन्देह महान् कवि है।'[१७]

फैटेंसी की केवल मानसिक शक्ति नहीं है, उसकी बिम्बात्मक और निगूढ़ अर्थवत्ता उसके विघटन और विशृंखलन पद्धति में निहित होती है। ब्रह्मराक्षस में मुक्तिबोध ने फैटेंसी का प्रचुर प्रयोग किया है। उन्होंने प्रसाद की 'कामायनी' को भी फैटेंसी माना है। किन्तु कामायनी के बिम्बावलियाँ विशृंखलित और विघटित नहीं हैं। लज्जा सर्ग के सभी बिम्बों को देखने से पता लगता है कि वे अच्छी तरह समायोजित और शृखलाबद्ध हैं। 'कामायनी : एक पुनर्विचार में उन्होंने फैटेंसी की जिन वस्तुगत विशेषताओं का उल्लेख किया है, वेा किसी अन्य विधा में पायी जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे फैटेंसी का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं कर पाये हैं, पर उनकी कविताएँ मिश्रित रूप से अपने विन्यास में फैटेंसी हैं।'[१८]

ब्रह्मराक्षस कविता फैटेंसी के कारण ही रहस्यात्मक वातावरण को धारण करती है। पूरी कविता का वातावरण रहस्यमय है। वहाँ परित्यक्त सूनी बावड़ी है, उसके भीतर गहरे ठण्डे जल में डूबी सीढ़ियाँ हैं, बावड़ी को घेरे हुए डाले उलझी है, शाखों पर लटकते घुग्घुओं के घोसले हैं। ये सभी प्रतीक मुक्तिबोध की फैटेंसी या कल्पना के ही परिणाम हैं।

फैटेंसी की वजह से कविता में नाटकीयता भी पैदा हुई है, जो मुक्तिबोध के काव्य-शिल्प की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। ब्रह्मराक्षस कविता की शुरुआत ही एक नाटकीय दृश्य से होती है जो न वाह्य यथार्थ से दूर, आन्तरिक व अमूर्त जगत् में ले जाता है–

शहर के उस ओर खण्डर की तरफ
परित्यक्त सूनी बावड़ी/के भीतरी/ठंडे अंधेरे में।

यह चित्रण भयावह कथ्य के सम्प्रेषण की प्रतीकात्मक भूमिका है। सूनी बावड़ी के भीतर एक ब्रह्मराक्षस बैठा है जो कल्पनाजनित है, ब्रह्मराक्षस एक मध्य वर्गीय बुद्धिजीवी है, जो आत्मुक्ति के लिए छटपटा रहा है। जीवनभर ज्ञानार्जन करता है, किन्तु ज्ञानकूप से निकल नहीं पाता। अपने ज्ञान को व्यवहार में परिणत नहीं कर पाता। ब्रह्मराक्षस असाधारण प्रतिभा का है वह बेबीलोनी और वैदिक कथाओं, छंद, मन्त्र तथा मार्क्स, एंगेल्स, रसेल, सार्त्र, गाँधी आदि सभी के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में समर्थ है। वह बावड़ी में अपना गणित जोड़ता-घटाता मर जाता है।

बिम्ब योजना–'बिम्ब' अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। इसका अर्थ है किसी पदार्थ का मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना अथवा मानसी प्रतिकृति उतारना है। डॉ० नगेन्द्र ने बिम्ब को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।'[१९] केदारनाथ सिंह ने भी बिम्ब को परिभाषित किया है–'काव्यगत बिम्ब वह शब्दचित्र है, जो ऐन्द्रिय गुणों से अनिवार्य रूप से समन्वित होता है।'

'ब्रह्मराक्षस' में मुक्तिबोध ने अपनी अन्य कविताओं की तरह बिम्बों का अत्यन्त सघन प्रयागे किया है। आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब योजना की दृष्टि से मुक्तिबोध का कोई सानी नहीं है। बिम्बों की सघन उपस्थिति के कारण कुछ आलोचकों ने तो उनकी कविताओं को 'बिम्बों का नगर' कहा है।

मुक्तिबोध के बिम्बों कीी मूल विशिष्टता उनकी कठोरता और भयानकता में है। डॉ० निमला जैन ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "दिन के प्रकाश के चितेरे तो बहुत से कवि हुए हैं किन्तु रात के अंधेरे से टकराने को हिम्मत निराला व मुक्तिबोध जैसे गिने-चुने कवि ही कर पाए हैं।"[२०]

मुक्तिबोध स्वयं मानते हैं कि मेरी कविताएँ बिम्बों से निर्मित हुई हैं। एक कविता में जिक्र किया है–

मेरी ये कविताएँ, भयानक हिडिम्बा हैं,
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ, विकृताकृति बिम्बा हैं।

'ब्रह्मराक्षस' में भी मुक्तिबोध की बिम्ब योजना भयानकता और रहस्यात्मकता को धारण करती है।

उनकी लगभग हर कविता की शुरुआत रहस्य के माहौल से होती है।

ब्रह्मराक्षस की शुरुआत भी ऐसी ही है–

शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ, परित्यक्त सूनी बावड़ी।

मुक्तिबोध के बिम्बों के क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हैं। उन्होंने सामान्य जन–जीवन प्राकृतिक दृश्यों आदि के साथ–साथ सैनिक जीवन, विज्ञान, गणित और अर्थशास्त्र जैसे विषयों की अवधारणाओं को भी बिम्ब रूप में प्रयुक्त किया है।

'ब्रह्मराक्षस' में उन्होंने गणित की दशमलव की अवधारणा का प्रयोग करके ब्रह्मराक्षस के मानसिक बिखराव तथा मजदूर वर्ग के असंगठित होने की समस्या को मूर्त बना दिया है–

उद्विग्न भालों पर, सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए,
अनगिन दशमलव से, दशमलव-बिन्दुओं के सर्वतः
पसरे हुए उलझे गणित मैदान में।

'ब्रह्मराक्षस' नयी कविता के दौर की रचना है। नयी कविता में बिम्बों का महत्त्व इतना अधिक था कि कई कवियों ने कविता की परिभाषा 'बिम्ब–शृंखला' के रूप में की है। यह विशेषता 'ब्रह्मराक्षस' में भी नजर आती है, क्योंकि शुरुआत से अन्त तक कविता विभिन्न प्रकार के बिम्बों द्वारा ही संरचित है। जैसे–

और होठो से, अनोखा श्रोत, कोई क्रुद्ध मन्त्रोच्चार
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार। (श्रव्यबिम्ब)
ब्रह्मराक्षस घिस रहा है देह, हाथ के पंजे बराबर
बाँह छाती मुँह छपा-छप। (दृश्य बिम्ब के साथ श्रव्यबिम्ब)

मुक्तिबोध के काव्य की भाषा और शिल्प की पहचान वस्तुतः उनके अनूठे प्रतीक, बिम्ब, अलंकार के माध्यम से सम्भव है। वह अपनी रचना में प्रचुर मात्रा में शब्दों विविधतापूर्ण प्रयोग करते हैं। अलग–अलग तरह के मुहावरे लोकोक्तियों के द्वारा छन्द–विधान को सार्थक तरीके से साधते हैं। अपने नवसम प्रयोग के आधार पर ही उन्होंने एक नए तरह की कविता का गठन किया, जिसमें 'फैटेंसी' विशिष्ट रूप में पढ़ने को मिलती है जो उनके सृजन संसार के सबसे श्रेष्ठतम परिदृश्य को उजागर करती है।

'मुक्तिबोध' निरन्तर अन्वेषी बने रहते हैं और नए–नए बिम्बों का इस्तेमाल करते हैं। यह प्रयोगधर्मी, अन्वेषक, दृष्टि उन्हें और उसकी कविता को उनके जीवन काल में निरन्तर एकांकी करती हुई, लेकिन इन सारे प्रयोग और अन्वेषिता का अभीष्ट एक ही था–मनुष्य और समाज की बेहतरी, उसके प्रति उत्तरदायित्व उद्देश्य परकता और गहरी मानवीयता, संवेदनीयता।[२१]

पथ भूलकर जब चाँदनी, की किरन टकराए, कहीं दीवार पर,
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, वंदना की चाँदनी में, ज्ञान गुरु माना उसे।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास–हृदयेश मिश्र एवं शिवलोचन पाण्डेय, भारती भवन प्रकाशन, पृ० २०८
२. वही, पृ० २०९
३. वही, पृ० २११
४. मुक्तिबोध का रचना संसार–डॉ० वर्षा अग्रवाल, साहित्य भण्डार प्रकाशन, पृ० ५२
५. वही, पृ० ५३
६. मुक्तिबोध–चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ५
७. महाकाव्य की मुक्ति–रेवती रमण, अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ० ३५
८. वही, पृ० ३६
९. श्रई कविता और अस्तित्ववाद–डॉ० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ० २५
१०. कविता के नए प्रतिमान–डॉ० नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, पृ० १०
११. आधुनिक कवि–विश्वम्भर मानव व रामकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, पृ० २०७
१२. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली–अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, पृ० २२८
१३. वही, पृ० २९९
१४. महाकाव्य की मुक्ति–रेवती रमण, अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ० ३२
१५. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली–अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, पृ० २४६
१६. मुक्तिबोध–चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० २५
१७. वही, पृ० २८
१८. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीजशब्द–बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन, पृ० ८१
१९. वही, पृ० ८३
२०. मुक्तिबोधकाव्य और संवेदना–नन्दकिशोर नवल, पृ० १२१
२१. आजकल–नवम्बर २०१७, मुक्तिबोध जन्मशती पर विशेषांक, पृ० ४

–असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी-विभाग)
नेशनल पी०जी० कॉलेज, भोगांव, मैनपुरी
मो०: ९४५००९६९३६

नन्द किशोर नवल जी रचित 'समकालीन काव्य-यात्रा'

–अपर्णा शुक्ला

'नवल जी का जन्म २ सितम्बर, १९३७ को चाँदपुरा वैशाली में हुआ। आप की पहली रचना वर्ष १९५४ में आयी जब आप हाई स्कूल में थे। हिन्दी की उच्च शिक्षा ग्रहण के दौरान ही आप का झुकाव आलोचना की तरफ उन्मुख हुआ। आपने ५-६ वर्षों तक त्रैमासिक आलोचना से भी सहसम्पादक के रूप में भी कार्य किये। आप की प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ कविता की मुक्ति, हिन्दी अलोचना का विकास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द का सौन्दर्यशास्त्र, निराला रचनावली इत्यादि है।

अपने समकालीन काव्य-यात्र लेख में नन्द किशोर नवल जी ने हिन्दी के अज्ञेय-मुक्तिबोध के बाद की हिन्दी कविता पर प्रकाश डाला है। इस लेख में आपने आठ कवियों के काव्य-लेख पर प्रकाश डाला है। जिन कवियों पर प्रकाश डाला है उनमें से मुख्य रूप से विजय देव शाही, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर चौधरी और धूमिल जी हैं। आप सभी लोग समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य के निर्माण में प्रमुख योगदान किये। आप सभी लोगों की उपस्थिति के बिना समकलीन कविता को समझना आसान नहीं है। जब कभी समकालीन कविता पर चर्चा की जाएगी आप सभी सम्मानित कवियों का नाम आएगा। नन्द किशोर नवल जी अपना ध्यान कवियों पर केन्द्रित किया है फिर भी वे इसके लिए भी सचेष्ट रहे की समकालीन कविता का स्वरूप और चरित्र अपनी पूर्णता से उद्घाटित होता चले। जिस कवि पर जिस तरह से आलोचना किया जा सकता है नवल जी ने बखूबी किया। आलोचना में अपने प्रगतिशील झुकाव को कायम रखते हुए नवल जी ने प्रगतिशील आलोचना की रूढ़ शैली को पकड़ कर चलने की कोशिश नहीं की। इससे शाही जी हो या कुंवर नारायण जी, रघुवीर जी हो या सहाय जी, राजकमल जी हा या धूमिल जी सबका विशिष्ट उभर कर सामने आया आरै यह स्पष्ट हो गया है कि अपने उद्देश्य में मानववादी होते हुए भी समकालीन कविता किसी साँचे में ढली हुई कथित प्रगतिशील व जनवादी कविता नहीं है। विषय, भाव, भाषा और शिल्प सभी क्षेत्रों में यह बहुरंगी और बहुआयामी है।

नवल जी अपने इस काव्य लेख के बारे में अपने आलेख में लिखा कि इस पुस्तक के लेख चार-पाँच वर्षों में लिखे गये हैं जो कि राजनीति और विचारधारा के क्षेत्र में द्रुत परिवर्तन का काल रहा है। आगे कहते हैं कि इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को अन्तिम रूप देते समय मैंने कल की या आज की दृष्टि से अपनी बातों में सुसंगति स्थापित करने का कृत्रिम ढंग से कोई प्रयास नहीं किया है। यह एक बात मेरे दिमाग में रही है कि रचना की तरह आलोचना भी रचना काल का अभिलेख होती है, इसलिए परवर्ती

काल में उसमें किया जाने वाला संशोधन और सम्पादन बहुत सार्थक नहीं है। इसीलिए नवल जी ने इस लेख में कवियों का चुनाव बहुत सोच समझ कर किया उनके कवि-व्यक्तित्व का पूरा मूल्यांकन करके ना कि अपनी व्यक्तिगत पसन्द से। यही कारण है उस समय के सारे महत्त्वपूर्ण कवियों को अपने इस लेख का अध्ययन बिन्दु बनाया। ये वे कवि हैं जिन्होंने समकालीन हिन्दी कविता का परिदृश्य निर्मित किया है और जिनकी काव्ययात्रा में समकालीन हिन्दी कविता के विकास को देखा, समकालीन कविता को परिभाषित करते हुए रघुवीर सहाय जी ने कहा कि मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। आप आगे कहते हैं कि मनुष्य की प्रतिभा और सामर्थ्य की अनन्त सम्भावनाओं का द्वार अपने अनुभव के लिए खुला रखकर सप्रयत्न उसके वर्तमान को बदलने में संलग्न होता है वही समकालीनता का धर्म-निर्वाह करता है।

समकालीन कविता पर लिखने के दो तरीके हो सकते हैं। उस पर उसकी प्रवृत्ति के हिसाब से पूरी कविता पर विचार करते हुए भी लिखा जा सकता है और उसके कवियों के हिसाब से, अलग-अलग कवियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करते हुए भी। इस लेख में नवल जी कहा कि मैंने अपना ध्यान कवियों पर केन्द्रित किया है और प्रयास किया है कि उससे सम्पूर्ण समकालीन कविता के परिदृश्य का भी संकेत से परिचय मिलता चले।

नन्द किशोर नवल जी विजय देव नारायण साही के बारे में लिखते हैं कि साही ने तार-सप्तक और नई कविता के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ दिलचस्प बाते बतलाई हैं। उनके अनुसार १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में समाजवादी नेता और कार्यकर्त्ता सम्पूर्ण रूप से सक्रिय थे। इस युवा क्रान्ति को कुचलने के लिए देश की दक्षिणपंथी शक्तियों और कम्युनिस्टों ने मिलकर षड्यन्त्र रचा था। राजनीतिक रूप से तो यह षड्यन्त्र सफल नहीं हुआ, लेकिन सांस्कृतिक स्तर पर अज्ञेय ने कम्युनिस्ट के साथ मिलकर जो प्रयोगवादी अभियान चलाया वह काफी सफल हुआ। तार-सप्तक कम्युनिस्ट के साथ अज्ञेय की सांस्कृतिक मोर्चाबन्दी की देन है। उसमें समाजवादी विचारधारा का कोई कवि नहीं था।[२]

नवल जी आगे कहते हैं कि जब साही जी ने अपने साथियों के साथ 'नई कविता' पत्रिका निकालने की योजना बनायी तो उनके मन में उस समय के प्रचलित भ्रान्तियों को तोड़ने का भी विचार था। वे और उनके साथी समाजवादी विचारधारा से सीधे जुड़े हुए थे। उनका विचार था कि नई कविता के बहाने समाजवादी विचारधारा को विकसित किया जाए। आरम्भ में साही जी के राजनीतिक विचार आचार्य नरेन्द्र देव से प्रभावित थे। लेकिन बाद में उन पर डॉ० लोहिया का बहुत प्रभाव पड़ा। आप दोनों समाजवादी नेता थे, परन्तु उनका समाजवाद दो प्रकार का था। साही जी का साहित्य सम्बन्धी समाजवादी विचार बहुत सन्तुलित है।[३]

नवल किशोर जी कुँवर नारायण जी के बारे में लिखते हैं कि कुँवर नारायण की बौद्धिकता अस्तित्ववादी है, भले वह उनसे भारतीय दार्शनिक रूप से लेकर प्रकट हुए हो। अस्तित्वाद के प्रचार-प्रसार के काल में अस्तित्व-सम्बन्धी भारतीय दर्शन के प्रश्नों का महत्त्वपूर्ण हो उठना कुछ मानी रखता

है। तीसरा सप्तक के वक्तव्य में ही उन्होंने अस्तित्व की दो बुनियादी परिस्थितियों का जिक्र किया है– एक व्यक्ति और अज्ञात तथा दूसरी व्यक्ति और उसका सामाजिक वातावरण। कुँवर नारायण जी के अनुसार अस्तित्व की आस्था सम्बन्धी समस्याएँ मूलतः अस्तित्व की भयानक शून्यता से उपजती है। कुँवर जी अपने आत्मजयी नामक काव्य में अस्तित्व अथवा मृत्यु के प्रश्न को जोर-शोर से उठाते हैं।

चक्रव्यूह और परिवेश–हम-तुम के प्रकाशन के बीच कुँवर नारायण की कुछ कविताएँ तीसरा सप्तक में संकलित हुई हैं। ये कविताएँ कई तरह की हैं–ऐहिक सिलसिलाओं से दूर रहने वाली अकेली-सी उदासी की भी और लिजलिजे रुमानीपन की भी। एक कविता में कुँवर जी ने यह भी कहा कि–

''अन्दर से बाहर आ सदियों की कुंठायें
बहुत बड़े जीवन की हलचल से मिल जाय।''

लेकिन दूसरी कविता में–

''अजन्मे सूक्ष्म के अति पास
अपनी मृत्यु से आगे''

कुँवर नारायण जी ने अपनी कविताओं के बारे में कहा है कि मेरी कविताओ में बाहरी जीवन को स्नेह और समझदरी से छूने का प्रयत्न किया गया है और जीवन के प्रति सहज स्वीकृति का भाव लेकर आगे चलती है। कुँवर नारायण जी के अनुसार प्रेम और प्रकृति में बहुत कुछ सम्बद्ध है। मानव-सौन्दर्य के साथ प्रकृति-सौन्दर्य की एक पूरी दुनिया उनकी कविताओं में अनावृत हो उठती है। वादी विचार संतुलित और खुलेपन के कारण आज के दौर में ज्यादे प्रासंगिक लगते हैं।[४]

नवल किशोर नवल जी ने कुँवर नारायण जी के बारे में आगे और लिखते हैं कि एक साक्षात्कार में कुँवर जी कहते हैं कि ''जिन्दगी के मामले में बिल्कुल व्यावहारिक दृष्टिकोण रखकर भी चला जा सकता है, लेकिन साहित्य और कलाएँ बिल्कुल व्यावहारिक दृष्टिकोण का नतीजा नहीं होती हैं।''

केदार नाथ जी के बारे में नवल जी कहते हैं कि उन्होंने अपने वक्तव्य का आरम्भ ही इस वाक्य से किया है कि ''कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब विधान पर।'' उनकी कविता के बारे में नवल जी कहते हैं कि केदार नाथ जी की कविता प्रगतिशील कविता से सम्बन्धित है। परम्परागत और प्रचलित प्रगतिशील कविता में सामान्यीकरण का जोर था, जिसका अनिवार्य परिणाम थी अमूर्तता। केदार जी बिम्ब-विधान के द्वारा अपनी कविता को विशिष्ट और मूर्त बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। तीसरा सप्तक में संकलित केदार जी कविताएँ कई तरह की हैं, लेकिन जिन कविताओं से उनकी पहचान बनी थी, वे लोकभूमि पर रचित कविताएँ हैं। ये कविताएँ न केवल लोकजीवन का कोई प्रसंग हमारे सामने लाती हैं, बल्कि इनकी धुने भी प्रायः लोक गीतों वाली हैं। तीसरा सप्तक में संकलित केदार जी कविताओं के चित्र और संगीत को देखकर लगता है कि उनकी कवि-प्रतिमा को ग्रामीण जीवन के परिवेश ने उद्‌भूद किया है। इसमें दूसरी तरह की कविताएँ प्यार की कविताएँ हैं, पर उनमें भी लोकभूमि पर रचित कविताओं वाला ही हर्षोल्लास है।

केदार जी की आरम्भिक कविताएँ भविष्य के प्रति आस्था से ओतप्रोत हैं। यह भविष्य अभी निराकार है, लेकिन उसका साकार होना निश्चित है। इसका प्रमुख उदाहरण 'निराकार की पुकार' नामक कविता है। केदार जी कीी इन कविताओं में एक रुमानियत है और प्राकृतिक रूप से ये कविताएँ प्रतीकात्मक हैं। इन कविताओं में सृजनात्मकता भी निहित है।

श्रीकान्त वर्मा जी के बारे में नवल जी कहते हैं कि उन्होंने नई कविता को रोमांटिक नवोत्थान कहा है। उनकी दृष्टि में तार-सप्तक की कविता में अस्तित्व और जीवन के प्रति शंका के भाव थे, क्योंकि वह युद्धकाल में लिखी गई थी। श्रीकान्त जी ने नई कविता का अत्यन्त सकारात्मक विकास माना और छायावाद को नकली रोमाटिसिज्म कहते हुए यह कहा था कि उसका अनुभव क्षेत्र जहाँ सांस्कृतिक वर्जनाओं और निषेधों से सीमित था, वहाँ नई कविता का अनुभव क्षेत्र बहुत ही विशाल था। आरम्भिक दौर में श्रीकान्त जी का सम्बन्ध मुक्तिबोध जी के साथ था। उनका यह सम्बन्ध सामाजिक न होकर साहित्यिक और सैद्धान्तिक था। उनकी कविता को देखने के बाद मुक्तिबोध जी भी बहुत आश्चर्य चकित रह गये और कहे कि उन्हें अपने जैसे एक साथी पाने का अहसास हुआ। मुक्तिबोध जी के सम्बन्ध में श्रीकान्त वर्मा जी ने कहा कि पहले उनकी कविता ने उन्हें आकर्षित किया, लेकिन बाद में जब वे उनके करीब आये, तो उनके व्यक्तित्व ने उन्हें जोरों से खींचा।[५]

'भटका मेष' और 'सरहद पर' नामक पुस्तक पर संकलित श्रीकान्त जी की आरम्भिक कविताएँ उनकी मनोभूमि के इर्द-गिर्द की रचनाएँ हैं। श्रीकान्त जी ने एक जगह लिखा है कि ''यदि मैं कलाकार ना होाता तो कविताओं को गालियों, लांछनों और तानो बानो से व्यक्त करता।

राजकमल चौधरी जी के बारे में कहा जाता है कि वह अमरीकी बीट पीढ़ी, बांग्ला की भूखी पीढ़ी और हिन्दी के अकविता-आन्दोलन से जुड़े थे। इस पीढ़ी के अग्रणी कवि एलेन गिंसवर्ग हैं जिनका कहना है कि वीट जनतन्त्र शान्ति के उपासक हैं, न अर्थवादी, न हथियारों के होड़ के पक्षपाती। राजकमल जी अमेरिका को पसन्द नहीं करते हैं उनका कहना है कि वह भौतिक उपलब्धियों के पीछे पागल हैं और वह देश-देश नहीं रह गया है। उनके अनुसार जनसंचार के साधनों ने व्यक्ति की आध्यात्मिक और वास्तविक अनुभूति को दबा कर उन पर मशीनीकरण चेतना आरोपित कर दिया है। कविता को राजकमल चौधरी जी व्यक्ति की आन्तरिक आत्मा की झाँकी मानते हैं। उनके अनुसार सभी व्यक्ति ईश्वर की नजर में एक है, इसलिए वह विश्व की आत्मा की झाँकी बीट कवि देखते हैं। उनके अनुसार नशीला पदार्थ का सेवन करने पर ईश्वर की ओर के दरवाजे बन्द हो जाते हैं।

राजकमल जी के वैचारिक और सृजनात्मक लेखन से लगता है कि वे सामाजिक यथार्थ से पीड़ित है। आधुनिक सभ्यता और दिखावेपन का विरोध उनकी कविताओं में देखने को मिलता है। हिन्दी का उनका पहला उपन्यास ''नदी बहती थी'' का प्रमुख पात्र रणजीत इसका प्रमुख उदाहरण है। आपने अपने ''तास के पत्तों का शहर'' नामक उपन्यास में आधुनिक सभ्यता पर तीखी टिप्पणी की है। इसकी प्रमुख

पात्र वन्दना सिंह के माध्यम से आधुनिक सभ्यता पर जो प्रहार आपने किया वैसा प्रहार शायद ही किसी ने किया हो।

राजकमल जी ने राजनीति पर भी खूब विरोध किया है। ''कविता की राजनीति'' में आपने न केवल राजनीति का विरोध किया, बल्कि यह कहा कि कविता अपनी सीमाओं और सुविधाओं के भीतर आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे को तोड़ने और जोड़ने में आदमी की मदद करती है। आपने कविता की राजनीति के माध्यम से कविता की ताकत को दिखाने का प्रयास किया।

धूमिल जी के बारे में नन्द किशोर नवल जी कहते हैं कि धूमिल जी जनतन्त्र और प्रजातन्त्र पर केन्द्रित करते हैं। जनतन्त्र को रघुवीर सहाय जी भी अपने केन्द्र में रखते हैं, परन्तु धूमिल जी की तरह दृढ़ नहीं हैं। धूमिल में आक्रोश का भाव है। धूमिल का जनतान्त्रिक प्रतिबद्धता इसलिए भी स्पष्ट है कि उनका एक पाँव गाँव में दूसरा शहर में है। इसके अलावा उनका जनता से भी शिकायत है, जनता की निष्क्रियता से। इसका उदाहरण उनकी कविता ''प्रौढ़ शिक्षा'' में देखने को मिलता है। धूमिल जी व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, लेकिन उसके लिए खुद तैयार नहीं हैं। जनता पर अपना गुस्सा तो उन्होंने कई कविता में लिखा है जो इस बात की तरफ इंगित करता है कि पुराने प्रगतिशील कवियों की तरह उन्होंने जन-पूजा नहीं की।

नये काव्य-आन्दोलन की सूचना सबसे पहले कविता की भाषा से ही मिलता है। धूमिल जी के बारे में कहा जाता है कि आपने अपनी भाषा से नई कविता की भाषा को अन्तिम रूप से नष्ट कर दिया। युवा कविता को उनकी खास देन उनका मुहावरा है, जो उन्हें युवा कवियों में विशिष्ट बनता है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि धूमिल जी के मुहावरे में आक्रामक है और उनसे व्यक्त होने वाला आक्रोश उनके स्नायु-दौर्बल्य का सूचक नहीं है।[६]

समकालीन कविता पर काम करते हुए नवल जी कहते हैं कि मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समकालीन कविता में हिन्दी कविता कल्पना और मिथक से यथार्थ की ओर, व्यक्ति से समाज की ओर और असाधारण से साधारण की ओर विकसित हुई। निष्कर्षतः हिन्दी की समकालीन कविता विद्रोह की कविता है। यह विद्रोह भले ही कहीं प्रकट हुआ हो या दबा हुआ हो। इस लेख को नवल जी डॉ० रामविलास शर्मा जी को समर्पित करते हैं जो प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में काम करने वाले अग्रणी हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. समकालीन काव्य-यात्रा–नन्द किशोर नवल, प्रथम संस्करण १९९४, पृ० १४, प्रकाशक किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

२. समकालीन काव्य-यात्रा–नन्द किशोर नवल, प्रथम संस्करण १९९४, पृ० १५, प्रकाशक किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

३. समकालीन काव्य-यात्रा–नन्द किशोर नवल, प्रथम संस्करण १९९४, पृ० ५१, प्रकाशक किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

४. समकालीन काव्य-यात्रा–नन्द किशोर नवल, प्रथम संस्करण १९९४, पृ० १६३, प्रकाशक किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
५. समकालीन काव्य-यात्रा–नन्द किशोर नवल, प्रथम संस्करण १९९४, पृ० २५६, प्रकाशक किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
६. नन्द किशोर नवल, मूरते माटी और सोने की, संस्मरण पुस्तक, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली प्रकाशन, वर्ष २०१७
७. कमल नाथ मिश्र साहित्यिक यात्रा त्रैमासिक वर्ष (०६), अंक २०२१-२२, जनवरी-जून २०२०
८. समकालीन काव्य-यात्रा–नन्द किशोर नवल, प्रथम संस्करण १९९४, प्रकाशक किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

–शोध-छात्रा (हिन्दी-विभाग)
मगध विश्वविद्यालय, मगध
मो०: ९५९९३२५९५७

'प्याज के छिलके' कहानी संग्रह में अभिव्यक्त मध्यम वर्गीय समाज

–रूबी सिंह

कहानी हिन्दी गद्य–लेखन की एक सशक्त विधा है, १९वीं सदी में गद्य की एक नई विधा का विकास हुआ। जिसे कहानी नाम से जाना जाता है, बंगाल में इसे गल्प कहते हैं। कहानी ने अंग्रेजी से हिन्दी तक की यात्रा बांग्ला के माध्यम से तय की। कहानी गद्य तथा साहित्य का एक अनन्यतम भेद तथा उपन्यास से भी अधिक लोकप्रिय साहित्य का रूप है। मनुष्य के जन्म के साथ ही कहानी का जन्म हुआ। हिन्दी कहानी सुनाना और सुनना तथा कहना मानव का आदम स्वभाव बन गया, हमारे देश में कहानियों की बड़ी लम्बी परम्परा रही है, जो १९वीं सदी से लेकर आज तक चली आ रही है, साथ ही इस कहानी को मजबूत विधा के रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा जाए तो इंग्लैण्ड में १५वीं शताब्दी में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तनो के फलस्वरूप मध्यम वर्ग का उदय होता है। उस समय लन्दन में ऐसे सौदागर व्याप्त थे, जो व्यापार और वाणिज्य को अपना व्यवसाय बनाने में लगे थे, कुछ लोग दूसरे देशों से आये हुए सामान को घुमा फिरा कर बेचा करते थे। यह सौदागर धीरे–धीरे व्यापार के हिसाब से रकम में लेनदेन करने लगे। धीरे–धीरे वह शताब्दी बीत गयी। १८वीं शताब्दी आते–आते इंग्लैण्ड में मध्यम वर्ग मजबूत होता गया, जो उस समय की भूस्वामियों से राजनीतिक शक्ति छीनने के लिए संघर्षरत था।

प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग का जीवन एक चुनौती बनकर सामने आया। युद्ध में हुए आर्थिक और सामाजिक दुष्परिणामों के कारण मध्यम वर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ा। जिस कारण से युद्ध में सारा बोझ मध्यम वर्ग पर डाल दिया गया। शिक्षा का प्रसार निरन्तर आगे बढ़ता गया और मध्यम वर्ग निरन्तर संघर्ष करते हुए आगे बढ़ा ही था, कि द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका ने मध्यम वर्ग को पुनः अपने आगोश में ले लिया। जिस कारण से मध्यम वर्ग के युवाओं में बेरोजगारी तेजी से बढ़ी। जिसका सामना करते हुए मध्यम वर्ग शिथिल पड़ गया। वह धीरे–धीरे अपनी जरूरत को पूरा करते हुए आगे बढ़ा और वह किसी–न–किसी माध्यम को अपने जीविकोपार्जन का मुख्य आधार बनाया।

अमेरिका में हुए सिविल वार से कृषक वर्ग प्रभावित हुआ। व्यापारियों ने नई–नई तकनीक लायी, जिससे औद्योगिकीकरण को बढ़ावा मिला, किन्तु मध्यमवर्गीय समाज के युवा पुनः बेरोजगारी की तरफ बढ़ने लगे, मशीनों के प्रभाव के कारण मध्यम वर्ग के मजदूरों की माँग कम होने लगी थी। समाज में छटपटाहट–सी पैदा हो गयी थी, मशीनों के कारण मध्यम वर्ग निरन्तर पतन की ओर जाता रहा। सन्

१८८१ ई० से १८९१ ई० में फ्रांस में मध्यम वर्गीय क्रान्ति हुई, जिसके कारण सामने आने लगे थे। फ्रांस लगभग दिवालिया हो चुका था, शासन-प्रशासन में तथा यातायात में व्यापक स्तर पर वित्तीय गड़बड़ियाँ हुई थी। मध्यवर्गीय ठेकेदारों को कम करने पर पैसे नहीं मिलते थे। मध्यमवर्ग को सरकार भी पैसे देने से लगभग मना कर चुकी थी, पादरियों ने अपनी जमीन सस्ते दामों में बेच दी थी। जो पर्याप्त रूप से मध्यम वर्ग के हाथ आयी, जिससे सबके लिए समान प्रयास किया गया। सामाजिक सिद्धान्त मान लिया गया, इस क्रान्ति से फ्रांस में अच्छी व्यवस्था होने लगी थी और मध्यम वर्ग प्रगति करने लगा था।

स्वतन्त्र्योत्तर भारतीय समाज में मध्यम वर्ग में सन् १९४७ ई० से एक नया मोड़ देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता के साथ ही आधुनिक मध्यम वर्ग के विकास में एक नया मोड़ आया, जिससे भारत में शिक्षा का प्रचार-प्रसार अत्यन्त तीव्र गति से होने लगा, दूर-दराज के क्षेत्र में भी ज्ञान का प्रकाश स्कूलों के माध्यम से होने लगा, शहर में तो पहले से ही स्कूल कॉलेज आदि थे। किन्तु गाँव में भी तेजी से स्कूल कॉलेज का विकास हुआ, विश्वविद्यालय से शिक्षित ज्ञान का तेजी से विकास हुआ। लोग सरकारी नौकरियों की तरफ तेजी से भागने लगे, सभी विभागों का विस्तार हुआ, उच्च सेवाओं का भी भारतीय करण हो गया है। पंचवर्षीय योजनाओं से भी नौकरियों के स्रोतों को बढ़ाया गया, शिक्षा के क्षेत्र में हमारे स्कूल व्यवस्था ने मध्यम वर्गीय समाज को उन्नति की ओर अग्रसर किया, नई कृषि तकनीक का प्रयोग कर मध्यम वर्ग धीरे-धीरे कृषि में भी समृद्ध हुआ।

कहानी हिन्दी साहित्य की बहुत ही महत्वपूर्ण विधा हैं। आधुनिक हिन्दी कहानी का आरम्भ २०वीं शताब्दी से माना जा सकता है, हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधाओं में कहानी का स्थान सर्वोपरि रहा है। कहानी अपने छोटे कलेवर में सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवेश की परिवर्तित रूप को चित्रित करने वाली सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है, जो फिछले कई दशकों में हिन्दी कहानी ने अपनी मजबूत पकड़ बनाई है, इसने आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, आंचलिकता, मध्यम वर्ग की चेतना आदि के महत्त्वपूर्ण पहलू को उजागर करने का प्रयास किया है। कहानी आज के बदलते हुए समय में और उसमें व्याप्त सामाजिक तत्त्वों की छानबीन करती है। आज आधुनिक कहानियों में सामाजिक आदर्श का स्वरूप बदल गया है, पूर्व कालीन कहानियों में आदर्शवाद का सम्बन्ध कल्पना से था। लेकिन आधुनिक काल की कहानियों का सम्बन्ध यथार्थ से सीधा जुड़ गया था। हम जिस समाज में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह वस्तुतः ऐसी समाज के अन्तर्गत लिया जाता है, जहाँ मध्यम वर्ग अपने समाज की समस्याओं से घिरा हुआ है। प्रत्येक मानव जीवन की अनेक समस्याओं से घिरा होता है, मध्यम वर्ग की स्थिति को आधुनिक कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्मय से संवेदनशील जान पड़ता है। इस वर्ग के अत्यन्त ही गम्भीर समस्याओं के आज की कहानीकारों ने अपनी कथा का माध्यम बनाया है। आधुनिक काल की समस्याओं को अपनी कहानी में चित्रित करने वाले प्रमुख कहानीकार उदय प्रकाश, मन्नू भण्डारी, मालती जोशी, अवधेश, गंगा प्रसाद 'विमल', शिवमूर्ति, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, राजी सेठ आदि लेखकों ने कहानियों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज का दुःख-दर्द सामाजिक पटल पर रखा है। इसी तर्ज पर डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद ने भी मध्य वर्गीय जीवन की कहानियों को

अपने कहानी में पिरोने का प्रयास किया है, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद एक प्रयोगशील रचनाकार थे, उन्होंने गद्य और पद्य में नये-नये प्रयोग किया है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद का एकमात्र कहानी-संग्रह 'प्याज के छिलके' के रूप में प्रकाशित हुआ है, इस कहानी-संग्रह में कुल १२ कहानियों को सम्मिलित किया गया है। इस कहानी संग्रह में व्यक्ति का अकेलापन उसकी उभरती हुई पीड़ा आदि को विस्तारपूर्वक दिखाया गया है।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद की कहानियों में व्यक्ति का अकेलापन और उसकी पीड़ा उभरती है, किन्तु व्यक्ति जीवन से जुड़ा है। वह सब कुछ झेलकर भी जीना चाहता है। अकेलेपन की पीड़ा को झेलती हुई नई पीढ़ी और उसमें पढ़ी-लिखी औरतों का अकेलेपन ही कहानियों में प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। एक दूसरी कहानी में देखा जाए तो अकेलेपन के अवसाद से ग्रस्त एक युवक मौत की पीड़ा को झेलता हुआ भी जीना चाहता है। दूसरी कहानी में रिटायर हो गए एक आधिकारिक आदतें ही उसे पीड़ा देती हैं। रिटायरमेण्ट के बाद एक-एक करके सब उससे दूर हो जाते हैं। एक और कहानी में एक लड़की अपनी क्रूरता के कारण कई बार समाज से उपेक्षित खाईं में गिर जाती है। वह अकेलेपन की घुटन व छटपटाहट से बुरी तरह पीड़ित है। एक कहानी में मुम्बई से अपने घर के लिए सामान्य डिम्बे में यात्रा करने वाले व्यक्ति को भीड़ से छुपाकर खड़े-खड़े चलना पड़ता है। जबकि उसके जेब कट जाती है, वह स्वयं मर जाता है। पुलिस वाले उसे मारकर बेहोश कर देते हैं। अकेलेपन में भी वह अपने आपको असुरक्षित महसूस करने वाली युवती का भाई है। अभावग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा, जर्जर मकान में सपने देखने वाली बच्ची की कहानी हमें परेशान कर देती है। तो व्यक्ति की छटपटाहट अपने लोगों की उपेक्षा से व्यक्ति की पीड़ा जैसी मनोदशा इसी कहानी में देखने को मिलेगी। यह कहानी व्यक्ति की अभाव संघर्ष और अकेलेपन को दर्शाते हुए दिखाई देती है। किन्तु जीवन के प्रति मोह को उभारती हैं। इनके कहानियों में मध्यम वर्गीय समाज पूर्ण रूप से संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ता है।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने समाज में मध्यम वर्गीय नारी की स्थिति को बहुत ही सहज एवं सरल ढंग से समझाने का प्रयास किय। विश्वनाथ प्रसाद की कहानियों में महिला पात्रों के माध्यम से उनके शोषण को मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। इनकी कहानियों में महिलाओं को हर वर्ग में शोषण का शिकार होना पड़ता है, उन्होंने अपनी लेखनी से महिला सशक्तिकरण का बीड़ा भी उठाया है। 'प्याज के छिलके' नामक कहानी नारी शोषण से ग्रस्त है, जो हमारे सम्मुख प्रस्तुत की गई है, प्याज के छिलके की तरह अपने जीवन को किसी-न-किसी तरह लपेटे रहती है। इसमें डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी कहते हैं कि, "घर, गृहस्थी, बच्चे, मर्द एक के ऊपर चढ़ी हुई दूसरी परत औरत एक-एक परत को अपने ऊपर चढ़ाई रहती है, प्रेम को प्याज की तरह छलकती हुई गढ़ का झोंका महसूस हुआ औरत भी क्या प्याज का एक खूबसूरत-सा घटा है। वह जैसे-जैसे सूखती है, वैसे-वैसे चिकनी ठोस और खूबसूरत लगती है कि आज का चिकन और गोला बारूद फिर उसकी एक-एक पद को दे दे तो वह भरती चली जाती, जैसे-जैसे परत हटती है वैसे-वैसे धमाकेदार गढ़ हवा में तैरने लगती है, या गढ़ हवा में होती है और हवा में ज्यादा एक-एक नस से गुजरती है, पूरे शरीर में फैल जाती है, प्याज की हर बात ही प्याज है सारी परतों

को हटा देने के बाद प्याज नाम की चीज नहीं रह जाती, प्रेम को महसूस हो रहा है कि जब उसका कुछ भी नहीं है उसके ऊपर परत दर पर चढ़ी हुई है, इन पर तो मिला-जुला रूप ही प्रेम है, सारी पर तो है जाने पर भी कुछ नहीं है, खूबसूरत प्याज एक बात और हवा में तैरती हुई झनातेदार परत है।"[१]

'चूल्हे की आग' नामक कहानी में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने नारी शोषण के अनेक पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया है। मध्यवर्गीय समाज में रहते हुए स्त्री के जीवन को सूक्ष्म रूप से चित्रित करने की भरपूर कोशिश इस कहानी के माध्यम से की गई है। कहानी में मध्यम वर्गीय परिवार की गुलाबी नाम की स्त्री के जीवन में व्याप्त शोषण को यथार्थ रूप में उद्धृत करने का प्रयास किया गया है। मध्यवर्ग के समाज में स्त्री की दशा अध्याय नहीं होती है, उसका साक्षात्कार करने की कोशिश इस कहानी के माध्यम से की गई है समाज के मध्यम वर्गीय स्त्री किस प्रकार से अपने आप को एक चक्रव्यूह में फँसी पाती है जैसे कि, "गुलाबी ने माथे के ऊपर झलक आए पसीने की बाएं हाथ की उँगली से पहुँचकर छिड़क दिया, सिन्दूर का बड़ा-सा टीका थोड़ी बाईं ओर फैल गया, माथे पर चिपके हुए आज के कुछ बोल इधर-उधर हो गये, गुलाबी ने दोनों हथेलियों को मुँह के पास लगाकर पूरी ताकत से लगातार कई दिन से भूखे मेरी कंज आई हुई लड़की की राख और दो दुआ थोड़ा नाक में घुस गया और थोड़ा-से गले में एक लम्बी साँस आई बेचैनी का अनुभव हुआ, गुलाबी धुन में तक पैन सेतिल मिलाकर उठ खड़ी हुई उसे चक्कर आ गया, फेंकने को पोषाहार से निकले हुए एक बस को थाम कर लटक गई २ मिनट के बाद उसका चित्र स्थिर हुआ, नाक छीन कर आँचल में मुँह का पीसना पोछने लगे लेकिन आग जली नहीं धुआँ धुआँ ही रही।"[२]

'एक अकेली' नामक कहानी में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने अलका नामक लड़की के जीवन की पीड़ा को चित्रित करने का प्रयास किया है। अलका जो एक शहर में अकेली रही है, जिसमें मैं चारों तरफ शोषण का शिकार बनती है। एक अकेली औरत को किस प्रकार समाज से बचकर जीने को मजबूर होना पड़ता है। उसका चित्रण इस कहानी के माध्यम से किया गया है, अलका एक ऐसी स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। जो समाज में पुरुष वर्ग के शोषण का शिकार है, वह जिधर भी जाती है, पुरुष वर्ग उसे गंदी नजरों से देखा है। हर पुरुष अपनी औरत को जीतने का प्रयास करता है। लेकिन अलका शैलेन्द्र नामक लड़के से प्रेम करती है, वह उसी को अपने जीवन का अंग मानती है। किन्तु समाज के अन्य लोग अलका को शैलेन्द्र की शादी का कुछ और ही बातें बनाते हैं, सोचते हैं कि अलका शैलेन्द्र के साथ सम्बन्ध बना सकती है, तो हमारे साथ क्यों नहीं बना सकती है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने समाज में पुरुषों की इसी मानसिकता को चित्रित करने का प्रयास किया है। इस कहानी के माध्यम से शर्मा नामक एक अधेड़ युवक जो अलका को गंदी नजरों से देखा है। उसकी मानसिकता का चित्रण किया है जैसे, "अलका हड़बड़ा कर खड़ी हो गई कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे, सामने वाले आदमी को वह आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही थी, कितना घिनौना और फरेबी अन्दर कमरे में आकर बात करने के लिए इतना जाल बिछाया, फिर उसे अपने आपको सँभाला।"[३]

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने 'प्याज के छिलके' कहानी-संग्रह के माध्यम से मध्यम वर्गीय समाज का यथार्थ चित्रण किया है। साथ-ही मध्यवर्गीय समाज में स्त्री के अकेलेपन उनके दुःख-दर्द व उनके

शारीरिक सम्बन्धों से जुड़ी हुई घटनाओं का जिक्र किया है। मध्यवर्गीय समाज में स्त्री अनेक समस्याओं से ग्रस्त हैं। जीवन की तमाम समस्याओं को अपने ऊपर लादे हुए भी मध्यम वर्ग जीवन यापन करता हुआ दिखाई देता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जहाँ समस्याएँ हैं। वहाँ मध्यम वर्ग है उसका सम्पूर्ण जीवन इन्हीं समस्याओं के इर्द-गिर्द घूमता दिखाई देता है, वह कभी तो पारिवारिक समस्याओ में घिर कर देता है, कभी सामाजिक समस्याओं से गिरा देता है, कभी आर्थिक समस्याओं से गिरकर वह लिपटा रहता है।

निष्कर्ष–डॉ० विश्वनाथ प्रसाद 'प्याज के छिलके' कहानी के माध्यम से यह बताना चाहते हैं, कि आज हमारा समाज कितना तेजी से बदल रहा है, जिसमें मध्यम वर्ग अपनी जगह को तलाश नहीं पा रहा है, मध्यम वर्ग समय के साथ अपनी जरूरत को पूर्ण करने में ही रह जा रहा है वह प्रगति के रास्ते पर नहीं बढ़ पा रहा है। वह स्वयं कहते हैं कि "किसी भी वर्ग का अंदाजा उस वर्ग की स्त्री की रहन-सहन और उस वर्ग के खान-पान से लगाया जा सकता है।"[४] आज मध्यम वर्ग को अर्थव्यवस्था और किराने के समान से लेकर पेट्रोल तक की लगातार बढ़ती कीमतों के साथ अपने आप को संयमित करके चलना पड़ रहा है। तो वही गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए भी सीमित पैसे होने के कारण समुचित शिक्षा नहीं मिल पा रही है। बच्चों का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। विश्वनाथ प्रसाद जी 'नागफनी के काँटे' नामक कहानी में कहते हैं कि मध्यमवर्गीय समाज हमेशा कुछ पाने की चाह में चिन्तित रहता है। वह उच्च वर्ग की नकल करने का भरपूर प्रयास करता है, इसके नकल करने में इसका पूर्ण जीवन ही बीत जाता है, किन्तु मध्यम वर्गीय समाज अपनी इस अवस्था में फँसा रहता है, जबकि उसे जीने की अन्तिम इच्छा को पूरी करने की आकांक्षाएँ नहीं पालनी चाहिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. प्याज के छिलके–डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण २०१४, पृ० ८
२. चूल्हे की आग, प्याज के छिलके–डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण २०१४, पृ० ६५
३. चूल्हे की आग, प्याज के छिलके–डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण २०१४, पृ० ९१
४. चूल्हे की आग, प्याज के छिलके–डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, भूमिका, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण २०१४

–शोधार्थी

ज्वाला देवी विद्या मन्दिर स्नातकोत्तर महाविद्यालय

कानपुर, छात्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

मो०: ७९८५७६२११९

Email: rubisingh4790@gmail.com

डॉ० गीता अस्थाना (शोध निर्देशिका)

जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह : प्रसादोत्तर नाटकों के प्ररिप्रेक्ष्य में

–कृष्ण कुमार जायसवाल

मनुष्य स्वभाव से ही अपनी वस्तुओं, रिश्तों एवं धन–सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में अधिकारपूर्ण होता है। उसे वे सभी चीजें प्रिय होती हैं, जिन पर उसका अधिकार होता है अथव जिसे वह अपना मानता है। उसे अपने माता–पिता, भाई–बहन, घर–परिवार व समाज आदि से अगाध प्रेम व लगाव होता है। यदि कोई उन्हें हानि पहुँचाए तो वह क्रुद्ध हो जाता है। यही प्रेम व लगाव जिस मिट्टी में वह खेलता है, बड़ा होता है, से भी होता है एवं व्यापक स्तर पर यही प्रेम राष्ट्रीय रूप में पनपता है, जिसकी एकता, अखण्डता एवं सम्प्रभुता की रक्षा में वह अपने प्राणों का त्याग करने में भी नहीं हिचकता है। प्रेम और त्याग की यह भावना मनुष्य में धीरे–धीरे स्वतः ही विकसित होती है। भारत विविधताओं वाला देश है जहाँ विविध जातियों, धर्मों, वर्गों या सम्प्रदायों एवं संस्कृतियों के लोग रहते हैं। जब बात व्यक्तिगत हित की होती है तो हमें जातियों, धर्मो, वर्गों व सम्प्रदायों आदि में बाँट दिया जाता है। किन्तु जब बात देश की सम्प्रभुता, अखण्डताा व हित की आती है, तो सम्पूर्ण राष्ट्रीय जनमानस चाहे वह किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय का क्यों न हो, एकजुट होकर राष्ट्रीय एकता का परिचय देता है। जनमानस की यही एकता राष्ट्रीय चेतना के प्राण शक्ति के रूप में उभरकर सामने आती है

यदि हम राष्ट्र की संकल्पना के विषय में बात करें तो कोई भी राष्ट्र जनसमूह से निर्मित होता है, जिसके लिए भौगोलिक सीमाएँ आवश्यक हैं और साथ ही उसमें एकता, समान भाषा, समान हित, समान परम्पराएँ और मूल्य आदि एकसूत्रीय रूप में विद्यमान हों। **डॉ० विद्यानाथ गुप्त** की राष्ट्र की आवधारणा के विषय में लिखते हैं– *"किसी निश्चित भौगोलिक इकाई पर बसा हुआ जनसमुदाय जिसकी अपनी ही सभ्यता तथा संस्कृति हो, अपनी ही भाषा तथा धर्म हो एवं अपनी ही विधि निषेध की परम्परा हो, राष्ट्र है।"*[१] वस्तुतः राष्ट्र हेतु एक निश्चित भू–भाग, उस पर निवास करने वाला जनसमूह एवं उनके एक समान जीवन–शैली, सांस्कृतिक, सामाजिक विचार, खान–पान, साहित्य, कला एवं दर्शन आदि का होना आवश्यक है। इन तत्त्वों के बिना राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

राष्ट्र के प्रति प्रेम से ही जनमानस में राष्ट्रीय चेतना विकसित होती है, जो राष्ट्र के सम्पूर्ण जनमानस को एकता के सूत्र में बाँधती है। इसी चेतना के चलते व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा राष्ट्र–हित पर ध्यान देता है। राष्ट्र की सेवा के लिए, राष्ट्र को सभी प्रकार से समृद्ध करने के लिए, इसकी रक्षा और सुरक्षा के लिए स्वयं का बलिदान कर देना गौरव की बात समझता है। यही चेतना सामूहिक

रूप में किसी देश के जनमानस को एक अलग रूप देती है। **प्रो० होलकॉम्ब** भी राष्ट्रीय चेतना के विषय में विचार करते हैं– *"यह (राष्ट्रीय चेतना) एक सामूहिक भाव है, एक प्रकार की साहचर्य की भावना है तथा पारस्परिक सहानुभूति है जो एक स्वदेश विशेष से सम्बन्धित रहती है।"*[२]

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय सम्पूर्ण भारतीय जनमानस भारत की आजादी के लिए अपने प्राणों का मोह त्याग कर संघर्षरत थी। उस समय सम्पूर्ण भारत आजादी के लिए आन्दोलनरत था। कई कवि, कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार अपनी लेखनी के माध्यम से जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह निरन्तर बनाए हुए थे। महात्मा गाँधी हों, जवाहरलाल नेहरू हों, सुभाषचन्द्र बोस हों या लाला लाजपत राय, सबके निर्देशन एवं सहयोग से स्वतन्त्रता आन्दोलन अपनी चरम स्थिति पर था। इससे प्रसादोत्तर युग के नाटककार भी अछूते नहीं रहे। प्रसादोत्तर युग के नाटककारों सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावनलाल वर्मा एवं लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय रूप से भूमिका निभाई। उन्होंने विभिन्न पात्रों और कथावस्तु के माध्यम से अपने नाटकों में स्वतन्त्रता आन्दोलन की रूपरेखा तैयार की। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के योगदान पर चर्चा करते हुए **सुरेश चन्द्र गुप्त** लिखते हैं– *"आधुनिक युग में भारतीय इतिहास की पूर्ण अथवा आंशिक रूप से उपेक्षित विविध घटनाओं को नाटक साहित्य के माध्यम से जन-प्रेरणार्थ उपस्थित करने वाले साहित्यकारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।"*[३]

वृन्दावनलाल वर्मा को अपनी मातृभूमि से बहुत प्रेम था। उन्हें यह प्रेम विरासत के रूप में मिला। मातृभूमि से अनन्य प्रेम होने के कारण उसके मूल्यों एवं अस्तित्व का पतन उन्हे असह्य था, जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपने 'झाँसी की रानी', 'पूर्व की ओर', 'कश्मीर का काँटा' एवं 'हंस मयूर' आदि नाटकों में की। वस्तुतः साहित्यकार अपने समय के महत्त्वपूर्ण विचारों, घटनाओं एवं आन्दोलनों से प्रभावित होता है, जिसका चित्रण स्वतः ही किसी-न-किसी रूप में उसकी कृति में हो ही जाता है। अतः स्वतन्त्रता आन्दोलन आदि से प्रसादोत्तर नाटककारों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। गोविन्द बल्लभ पन्त कृत 'राजमुकुट' नाटक, उदयशंकर भट्ट कृत 'दाहर', 'सगर विजय', 'शक विजय' एवं 'विक्रमादित्य' नाटक तथा हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'रक्षाबन्धन', 'अमृत-पुत्री', 'प्रकाश-स्तम्भ', 'प्रतिशोध', 'शिव-साधना', 'स्वप्न भंग', 'आहुति', 'शपथ' एवं 'उद्धार' नाटक, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'अशोक' एवं 'रेवा' नाटक, सेठ गोविन्ददास कृत 'कुलीनता', 'हर्ष', 'शशिगुप्त', 'प्रकाश' एवं 'पाकिस्तान' नाटक, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'जय पराजय' एवं लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'गरुड़ध्वज' आदि प्रसादोत्तर नाटकों में राष्ट्रीय चेतना क तीव्र स्वर देखने को मिलता है। यह स्वर केवल नाटककारों का नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय जनमानस का स्वर है।

प्रसादोत्तर नाटकों में राष्ट्रीय चेतना की मुखर अभिव्यक्ति हुई है। प्रसादोत्तर नाटककारों ने भारतीय जनमानस के हृदय में देश के प्रति अन्य अनुराग, देश की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मूल्यों के प्रति आस्था की अलख अपने नाटकों के विभिन्न पात्रों के माध्यम से जगाई, उनके सामने ऐसे अनेक

उदाहरण प्रस्तुत किये जिसके लिए देशहित के अलावा अन्य हित शून्य हो गए। उन्होंने राष्ट्र को सर्वापरि रखकर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाले पात्रों की रचना की। साथ ही देश के गौरवमयी प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की भी बात की, जिससे निश्चित ही भारतीय जनमानस में राष्ट्रप्रेम की एक नई स्फूर्ति एवं ऊर्जा उत्पन्न हुई और उन्होंने देश के लिए अपनी सभी हितों को दरकिनार कर दिया। सेठ गोविन्ददास कृत 'पाकिस्तान' नाटक की पात्र 'दुर्गा' भारत की विशाल एवं गरिमापूर्ण संस्कृति तथा प्राकृति स्वरूप को प्रकट करते हुए कहती है– *"मेरी सम्मति में भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष एक देश है। उसकी स्वाभाविक सीमाएँ हैं। उत्तर में उसका सिर पर्वतराज हिमालय रूपी मुकुट से सुशोभित है। दक्षिण में उसके चरणों को रत्नाकर सागर धो रहा है। गंगा आदि नदियाँ अपने पावन नीर से उसे पवित्र कर रही हैं। अनेक अन्य पर्वत और वन उसके भिन्न-भिन्न अंगों के शृंगार है..... इस राष्ट्र की संस्कृति संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति है। विश्व की अन्य संस्कृतियों पर इस संस्कृति की छाप है।"*[४] दुर्गा जैसे पात्रों के माध्यम से प्रसादोत्तर नाटककारों ने जनमानस में राष्ट्र की गौरवमयी संस्कृति के प्रति, उसके मनमोहक प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति प्रेम-भाव को पोषित किया। अपने एक अन्य नाटक 'हंस-मयूर' में वृन्दावनलाल वर्मा ने देश प्रेम और आस्था की मिसाल कायम करते हुए भारत भूमि को स्वर्ग से भी ऊँचा स्थान दिया और उसकी महिमा का गुणगान 'विष्णु पुराण' के एक श्लोक के माध्यम से 'हंस-मयूर' में नाटक के नान्दी पाठ में उद्धृत किया–

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते, भूयः पुरुषा सुरत्वान।।१।।[५]

(विष्णु पुराण, २/३/२४)

प्रसिद्ध प्रसादोत्तर नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी' भी वर्मा जी से पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी अपने नाटकों के माध्यम से जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह बखूबी किया। उनके नाटकों में मातृभूमि के प्रति पवित्र आस्था एवं ममत्व की भावना का जो चित्रण मिलता है, उसे राष्ट्र-प्रेम के आदर्श के रूप में देखा जा सकता है। 'प्रेमी' जी ने मध्यकालीन परिवेश के साथ ही स्वतन्त्रता पूर्व के परिवेश को भी अपने नाटकों का आधार बनाया। उनके नाटकों के पात्र जनमानस के प्रतिरूप हैं, उनमें राष्ट्र-प्रेम का जो भाव भरा है, निश्चित रूप से आह्लादित करने वाला है। उनके प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न-भंग' की पात्र 'नादिरा' का राष्ट्र के प्रति प्रेम द्रष्टव्य है– *"मेरा मज़ार हिन्दुस्तान की भूमि में ही बनाना। मुझे यहाँ न दफनाना।"*[६] मातृभूमि के प्रति यह अपनत्व भारतीय जनमानस का एक सुन्दर उदाहरण है, जो अपनी मृत्यु के बाद भी अपना कब्र भारत की सरजमीं पर बनवाना चाहती है। अपनी मृातभूमि से विछोह अत्यन्त ही पीड़ादायक होता है। यह पीड़ा रह-रहकर हृदय में टीस की तरह उठती है इसी विछोह के दर्द को 'प्रेमी' जी के 'उद्धर' नाटक की पात्र 'सुधीरा' बयाँ करती हैं– *"इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि देश की मिट्टी से भी हमें प्रेम होता है। अपने देश के वन, पर्वत, नदी-निर्झर, झील, तालाब और वायु भी हमें आत्मीय जान पड़ते हैं। सोने के पिंजरे में बन्दी पक्षी बिना परिश्रम दाना पानी पाने पर भी अपने नीड़ में पहुँचने के लिए क्यों छटपटाता है? मेरी यह झोपड़ी मेरा नीड़ है, मैं इसे नहीं छोड़ूँगी।"*[७]

भारत सांस्कृतिक रूप से ही नहीं अपितु प्राकृतिक रूप से भी अत्यन्त समृद्ध राष्ट्र है। यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य एवं वातावरण केवल भारतीयों को ही प्रिय नहीं था, अपितु इसके सौन्दर्य एवं संसाधन की पूर्णता की कीर्ति देश-विदेशों में भी फैली थी, जिससे प्रभावित होकर न जाने कितने देशों के यात्री और आक्रमणकारी यहाँ आये। ऐसे प्राकृतिक सौन्दय के प्रति मोहित होना, उससे स्नेह रखना स्वाभाविक है। इसके सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य का मिला-जुला रूप उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'जय पराजय' नाटक में मिलता है, जब इसकी पात्र 'हेमवती' बचपन की स्मृतियों में खो जाती हैं, जिसे अपने देश से अत्यन्त प्रेम है, कहती हैं– *"यह स्थान मुझे कितना प्रिय है, इसके साथ बचपन की कितनी स्मृतियाँ लिपटी पड़ी हैं। ठण्डी-ठण्डी हवा में लम्बे-लम्बे साँस लेना, सुन्दर फूलों पर मँडराते हुए भ्रमरों की गुंजार सुनना! और रंग-बिरंगी तितलियों का नृत्य देखना। मैं जब भी यहाँ आती हूँ, अपने इस प्रिय स्थान को देखने के लिए आतुर हो उठती हूँ।..... और यह, युवराज के अनुरोध पर बनाया गया रानी पद्मिनी का मन्दिर कितना भव्य, कितना सुन्दर, कितना लालित्यपूर्ण है। मैं उन दिनों की कल्पना करती हूँ, जब विध्वंसकारियों के हाथ इन खण्डहरों को छू न पाए थे और रानी पद्मिनी इस मन्दिर की पूजा को आती थीं।"*[८]

भारत को भावनाओं का देश भी कहा जा सकता है। जिस देश की भूमि को माँ का दर्जा दिया जाता हो, उसके प्रति वही निष्ठा, प्रेम, आदर व सम्मान दिया जाता हो, जिस प्रकार हम अपनी जन्मदात्री माँ को देते हैं, तो ऐसे भावशील एवं आचरणशील भारतीय जनमानस में अपनी मातृभूमि के प्रति लगाव क्यों न हो। अतः उसका अपनी मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर करना स्वाभाविक है। इस प्रकार की राष्ट्रीय चेतना जो जनमानस में विकसित होती है, वह स्थायी होती है, वह व्यक्ति को अपने राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का बोध कराती है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' कृत 'विषपान' नाटक का 'दौलत सिंह' इस कर्त्तव्य का निर्वहन ही नहीं करता, बल्कि जनमानस में भी राष्ट्र के प्रति उनके कर्त्तव्य बोध का भाव भरता है– *"यह देश हमारी सबकी माँ है। यह हमारा सबका समान रूप से पालन करती है।..... हम सब भाई एक होकर अपनी माँ का मान बढ़ायें..... अपने देश को शक्तिशाली बनायें, संकुचित मनोवृत्ति को छोड़कर विस्तृत दृष्टिकोण से प्रत्येक बात को देखें।"*[९]

भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय चेतना की भावना प्रसादोत्तर युग तक आते-आते व्यापक रूप ले चुकी थी और प्रत्येक व्यक्ति राजनैतिक गुलामी से मुक्त होने के लिए पूर्णतया संघर्षरत था। उसके मनोबल को बढ़ाने के लिए, उसे उत्साहित करने के लिए, उसमें आत्म-चेतना के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना का बोध विकसित करने के लिए इस युग के नाटककारों ने भारत के गौरवमयी इतिहास को आधर बनाया। उन्होंने इतिहास के महान चरित्रों के माध्यम से युवाओं में वीरता, देशभक्ति, कर्त्तव्यपरायणता, धार्मिक सहिष्णुता व सांस्कृतिक समन्वयता आदि की भावना भरी, जिससे उनमें एक नई स्फूर्ति एवं ऊर्जा का संचार हुआ और वे अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए एकजुट होकर खड़े हुए। लक्ष्मीनारायण मिश्र जी ने अपने ऐतिहासिक नाटको में मौर्य काल, गुप्त काल तथा शुंग काल के भव्य चित्र को रेखांकित

किया, जो जनमानस को निश्चित रूप से अपने स्वर्णिम राष्ट्रीय गौरव की याद दिलाता है, जिससे जनमानस में राष्ट्रीयता की भावना का संचरण होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'गरुड़ध्वज' नाटक की भूमिका में **नारायण चतुर्वेदी** जी लिखते हैं–*हमारा इतिहास गौरवशाली है कि उसके जानने से हमारे राष्ट्र में आत्मविश्वास और आत्माभिमान का संचार होगा और बिना इन गुणों के कोई भी राष्ट्र उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।''*[१०] मिश्र जी ने 'गरुड़ध्वज' नाटक के माध्यम से शुंग वंश कालीन भारत के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीयता एकता को रेखांकित कर राष्ट्र के नवनिर्माण हेतु प्रेरित किया।

सेठ गोविन्ददास कृत 'शशिगुप्त' नाटक का पात्र 'शशिगुप्त' अत्यन्त ही वीरता का परिचय देते हुए आर्यावर्त को विदेशी गुलामी से मुक्ति दिलाता है और भारतवर्ष में एकछत्र राज्य की स्थापना करता है। शशिगुप्त के माध्यम से गोविन्ददास जी ने भारतीय जनमानस में साहस एवं वीरतापूर्ण भाव को उद्धृत कर राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह किया। 'शशिगुप्त' नाटक लिखने का मन्तव्य इसके पात्र चाणक्य द्वारा स्पष्ट हो जाता है– *''राष्ट्र का यथार्थ निर्माण इतिहास के वे संस्मरण करते हैं जिनमें राष्ट्र के प्रमुख पुरुषों या स्त्रियों के महान चरितों का वर्णन रहता है। यथार्थ में राष्ट्र उन थोड़े से पुरुषों या स्त्रियों में निवासकरता है जो कुछ सोचने और कुछ करने की क्षमता रखते हैं। अश्वक जाति के एक साधारण से साधारण अधिपति ने अपनी असीम देशभक्ति, अपनी महान वीरता, अपने सर्वस्व त्याग, अपनी अपार कष्ट-सहिष्णुता के कारण असाधारण से असाधारण तथा उच्च से उच्च स्थान प्राप्त किया है; इस घटना ने समूचे देश की काया पलट दी है और इस घटना का ऐतिहासिक संस्मरण सदा के लिए राष्ट्र निर्माण में एक विशेष स्थान रखेगा।..... अश्वकों के अधिपति शशिगुप्त ने उच्चतम तथा परम पुनीत हिमालय के मोर शिखर पर आर्यावर्त को विदेशियों के कलंक से मुक्त करने तथा भारतवर्ष में एक साम्राज्य स्थापित करने का उच्च-से-उच्च तथा पवित्र-से-पवित्र संकल्प किया था।''*[११]

सेठ गोविन्ददास कृत एक अन्य नाटक 'कुलीनता' का पात्र 'गौड़वंशीय यदुराय' अपनी वीरता से भारतीय जनमानस में वीरता का भाव भरता है। तो वहीं दूसरी तरफ उदयशंकर भट्ट जी अपने ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों में इतिहास की महानताओं और दुर्बलताओं का चित्रण करते हुए जनमानस में देश की प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। लगभग यही प्रवृत्ति वृन्दावनलाल वर्मा के नाटकों में भी दिखाई देती है। वे भी अपने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के माध्यम से प्राचीन सांस्कृतिक गौरव का चित्र जनमानस में खींचते हैं। जिससे जनमानस में अपनी संस्कृति एवं राष्ट्र के प्रति अपनत्व बढ़ता है। 'पूर्व की ओर' नाटक में भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रसार तो वहीं 'झाँसी की रानी' में भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का सजीव चित्रण दिखाई देता है, जो जनमानस में राष्ट्र के प्रति आत्मबलिदान की भावन देने की क्षमता रखता है।

राष्ट्र की प्रगति के लिए समाज की उन्नति करना अत्यन्त आवश्यक है। एक बेहतर समाज, बेहतर राष्ट्र के प्रगति की नींव सुदृढ़ करता है। सामाजिक विकार एवं समस्याएँ ही राष्ट्र के पतन का कारण बनते हैं और देश की स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न करते हैं, जिससे जनमानस प्रभावित होता है। प्रसादोत्तर

नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा समाज में व्याप्त विकृतियों के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए जनमानस में यह भाव प्रेषित करने का प्रयत्न किया कि बिन सामाजिक समस्याओं, विरूपताओं एवं विकारों को दूर किए राष्ट्र का नवनिर्माण और विकास नहीं किया जा सकता। प्रसादोत्तर युग के नाटककारों ने जनमानस में जातिगत भेदभाव, ऊँच-नीच की भावना एवं अन्य विकारों के कारणों की खोज करते हुए अपने नाटकों में उस कारणों को चित्रित कर उनका समाधना भी सुझाया और साथ ही जनमानस में एकता का संचार भी किया। वास्तव में ऊँच-नीच की भावना भारतीय समाज का सबसे बड़ा कलंक है, जो राष्ट्र की छवि को धूमिल करता है। समाज को इन बुराइयों से उबारने के लिए प्रसादोत्तर युग के नाटककारों ने राष्ट्रीय एकता व सांस्कृतिक समन्वता पर जोर दिया, जिसका जनमानस पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'उद्धार' नाटक के माध्यम से समाज में व्याप्त इस ऊँच-नीच की भावना का चित्रण किया और यह भी बताया कि वंशाभिमान की भावना राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक है– *''ऊँच-नीच की भावनाओं में पड़कर आप लोग स्वयं अपना सर्वनाश कर रहे हैं। ..... संसार में भारत जैसा महान धन-धान्य से पूर्ण, कला-कौशल निपुण दूसरा देश कौन-सा है? फिर भी शताब्दियों से इस देश पर विदेशियों को आक्रमण करने का साहस हो रहा। इतने बड़े राष्ट्र को अनेक बार पराजय और पराधीनता का अभिशाप सहना पड़ा है सो सब किस पाप से? इसलिए कि हम भाई को भाई नहीं समझते। हम जातियों में विभाजित हैं..... एक-दूसरे से घृणा करते हैं। शत्रु संख्या में कम होकर भी हम पर विजय पाता है, क्योंकि बहुसंख्या मे होकर भी एक रस नहीं; एक अनुशासन में नहीं।''*[१२]

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि प्रसादोत्तर युगीन नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा तत्कालीन भारत में फैले हुए विद्वेष व विकारों को दूर करने का जो कार्य किया, वह ऐतिहासिक रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से जनसाधारण को धार्मिक कट्टरता एवं साम्प्रदायिक विद्वेषाग्नि से निकालकर देश की प्रगति के कार्यों में सहयोग देने हेतु प्रेरित किया। जहाँ एक ओर प्रेमी जी ने अपने नाटकों में हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे का सहायक बनाकर, दोनों के धर्मों की पारस्परिक सहिष्णुता दिखाकर साम्प्रदायिक एकता जनमानस में प्रेषित किया, वहीं दूसरी ओर भट्ट जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में धार्मिक वैमनस्य के दुष्परिणाम दिखाकर जनमानस में साम्प्रदायिक एकता और राष्ट्रीय चेतना जगाने का काम किया है। प्रसादोत्तर युगीन अन्य नाटककारों उपेन्द्रनाथ 'अश्क', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास एवं गोाविन्द वल्लभ पन्त आदि ने भी तरह-तरह के प्रयत्नों से अपने नाटकों में भारतीय सांस्कृतिक एकता, बन्धुता, अखण्डता और साम्प्रदायिक एकता का चित्रण करके भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का प्रचार-प्रसार किया, जिसने राष्ट्र की स्वतन्त्रता में एक महती भूमिका अदा की एवं साथ ही देश सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से भी उन्नत हुआ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना–विद्यानाथ गुप्त, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९६६, पृ० ५

२. फाउण्डेशन ऑफ मॉर्डन कॉमनवेल्थ–प्रो० होलकॉम्ब, १९२३, पृ० १३३
३. नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी, भारतीय नाट्य साहित्य–सुरेशचन्द्र गुप्त, सं० नगेन्द्र, एम० चन्द एवं कम्पनी, १९६८, पृ० ३५०
४. पाकिस्तान–सेठ गोविन्ददास, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० १९–२०
५. हंस-मयूर–वृन्दावनलाल वर्मा–मयूर प्रकाशन, झाँसी, चतुर्थ संस्करण १९५०, नान्दी पाठ, पृ० २०
६. स्वप्न भंग–हरिकृष्ण 'प्रेमी' आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९५२, पृ० १२६
७. उद्धार–हरिकृष्ण 'प्रेमी', आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९५२, पृ० ८३
८. जय पराजय–उपेन्द्रनाथ 'अश्क', आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९५२, पृ० ५१
९. विषपान–हरिकृष्ण 'प्रेमी', आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५८, पृ० १००
१०. गरुड़ध्वज की भूमिका–लक्ष्मीनारायण मिश्र, लेखक श्रीनारायण चतुर्वेदी, पृ० २
११. शशिगुप्त–सेठ गोविन्ददास, रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९९४, पृ० १४०-१४१
१२. उद्धार–हरिकृष्ण 'प्रेमी', आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९४९, पृ० ९

–शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
इ०वि०वि० प्रयागराज

हिन्दी नवजागरण की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति : भारत-भारती

–डॉ० रत्नाकर यादव

१९वीं शताब्दी में भारतीय समाज संक्रमण के जिस तीव्र दौर से गुजरा, उसे कुछ चिन्तक पुनर्जागरण कहते हैं, कुछ पुनरुत्थान तो कुछ अन्य नवजागरण। ये सभी शब्द इतिहास के प्रति विशेष दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। पुनरुत्थान 'पुनः' तथा 'उत्थान' से मिलकर बना है, जिसका तात्पर्य है, फिर उठ खड़े होना। जो विचारक अतीत को स्वर्ण काल में मानते हैं और वर्तमान से असंतुष्ट होकर अतीत को पुनः लौटा लाना चाहते हैं, वे पुनरुत्थानवादी कहलाते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार आर्य समाज का नारा 'वेदों की ओर लौटो' ऐसे ही दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है, हालाँकि आर्य समाजी इसकी भिन्न व्याख्या करते हैं। 'पुनर्जागरण का अर्थ है फिर से जागना। यह शब्द रेनसाँ (Renaissance) का अनुवाद है।'[१] यूरोप में प्राचीन काल श्रेष्ठ था, जबकि मध्यकाल अंधकार का समय था। इसलिए यह नारा वहाँ काफी अर्थपूर्ण था। इसका तात्पर्य है कि हम अतीत में जागे हुए थे, फिर सो गये थे, फिर सो गये थे, अब पुनः जागने का समय आ गया है। कुछ लोग भारतीय समाज की व्याख्या इसी शब्द से करते हैं, उनका तर्क है कि प्राचीन काल स्वर्णिम युग था, जहाँ दर्शन, साहित्य व विज्ञान का सर्वोच्च विकास हुआ, किन्तु इस्लामी आक्रमण के बाद भारतीय समाज पतनोन्मुखी हो गया। अब पुनः जगाने का समय आ गया है। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' प्रायः इसी भाव को लेकर लिखी गयी है–

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ मिलकर आज विचारे ये समस्याएँ सभी।।

(भारत-भारती)

''कुछ आधुनिक विचारक भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इन दोनों को ही अपर्याप्त मानते हैं तथा एक भिन्न दृष्टिकोण 'नवजागरण' का प्रतिपादन करते हैं। इसका अर्थ है–नए तरीके से जागना।''[२] नवजागरण एक विशेष प्रकार के सांस्कृतिक संक्रमण का दौर जिसमें कोई समाज किसी अन्य संस्कृति से टकरा कर नए दृष्टिकोण से जीने का प्रयास करता है। जिन देशों के पास गौरवमय अतीत है, अतीत की स्मृतियाँ भी नवजागरण का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनती हैं। शेष समाजों में अन्य संस्कृतियों से परिचित होना और उनकी तुलना में अपना मूल्यांकन करना नवजागरण के कारण का हिस्सा बनती है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में कहे तो–''नवजागरण दो संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है। इस ऊर्जा के प्रभाव स्वरूप दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे की अच्छाइयाँ ग्रहण करना चाहती हैं

और अपनी बुराइयाँ छोड़ना चाहती हैं। यही सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया समाज के इतिहास में नवजागरण कहलाती है।

"१९वीं शताब्दी का नवजागरण हिन्दी साहित्य के इतिहास का दूसरा जागरण है, जिसमें एक ओर भारतीय सामाजिक संस्कृति हैं, तो दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति।"[३] इस समय भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान एवं मध्यकालीन दौर से गुजर रही थी। जबकि पाश्चात्य संस्कृति वैज्ञानिक तथ मशीनी क्रा्ति के आधार पर भौतिकवाद तथा पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व कर रही थी। उसका आध्यात्मिक पक्ष तुलनात्मक रूप से कमजोर था। उसके पास वैज्ञानिक तर्किक शिक्षा थी, समानता, स्वतन्त्रता, न्याय व बन्धुत्व के आधुनिक आदर्श थे, जो तत्कालीन भारतीय समाज के लिए अनर्जित थे। इन दोनों टकराहट से भारतीय संस्कृति ने आधुनिक शिक्षा व भौतिकता सीखी तो पाश्चात्य संस्कृति के यहाँ के अध्यात्म से प्रभावित हुई। "नवजागरण युग में व्यक्ति स्वातन्त्र्य मनुष्य की महत्ता, धर्मनिरपेक्षता और मानवतावाद का पथ प्रशस्त हुआ और विज्ञान के भाँति-भाँति के आविष्कारों और खोजों ने वैज्ञानिक दृष्टि विकसित की। भारत में १९वीं सदी का नवजागरण राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ विकसित हुआ।"[४]

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु और उनके मण्डल के लोगों ने नवजागरण की ज्योति जगायी। हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है–

खलगनन सों सज्जन दुखी मति होई, हरि पद रति रहैं।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै, कर दुःख बहै।।
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर समहोहिं, सब जग सुख लहैं।
तजि ग्रामकविता सुकवि जन की अमृत सब कहै।।

(भारतेन्दु समग्र, पृ ४०४)

इसमें भारत की जनता कर-दुःख से मुक्ति की कामना के साथ-साथ उपधर्म से छुटकारे की बात की गई है। पाश्चात्य शिक्षा के ज्ञान का फल जिन्होंने चख लिया है, वे विवेक का परित्याग न करे, नर-नारी समान हों, सारी दुनिया में सुख-शान्ति हो, अश्लील और फूहड़ अपसंस्कृति को त्यागकर लोग सुकवियों की अमृतवाणी में रुचि लें, खलों के दुर्व्यवहार का शिकार सज्जन न हों और सबसे बड़ी बात हरिपद में रति बनी रहे–इसे पढ़कर लगता है, जैसे भारतेन्दु ने सौ-सवा सौ साल पहले नहीं अभी-अभी इसे लिखा हो। हरिश्चन्द्र की इस शुभकामना में भारतीय जनता की आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ व्यक्त हुई थी। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भारतेन्दु की इसी शुभकामना को कुछ अधिक व्यापक रूप में अभिव्यक्ति दी। मैथिलीशरण गुप्त भी अपनी रचनाओं में भारतेन्दु द्वारा पुष्पित राष्ट्रीयता को एक चेतना के रूप में प्रवाहित करते हैं। गुप्त जी अपनी अधिकतर रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना को मुखरता से वर्णित किया है, जिसमें प्रमुख हैं–१९१२ ई० में प्रकाशित तत्कालीन समय की चर्चित रचना–'भारत-भारती।'

'भारत-भारती' मैथिलीशरण गुप्त की प्रमुख रचना है। यह अपने युग की वह सर्वप्रथम राष्ट्रीय रचना स्वीकार की गई है जिसने देश की जनता को एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान किया।" इस पुस्तक में वर्णित राष्ट्रीय चेतना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अतीत को स्वीकारती अवश्य पर है पर केवल अतीतोन्मुख न होकर युगीन समाज को वर्तमान और भविष्य से भी जोड़ती है।" 'भारत-भारती' की भूमिका में गुप्त जी ने लिखा है–'यह बात मानी हुई है कि भारत की पूर्व और वर्तमान दशा में बहुत भारी अन्तर है, अन्तर न कहकर इसे वैचित्र्य कहना चाहिए। एक वह समय था, जब यह भारत देश विद्या, कला, कौशल में संसार का शिरोमणि था, और एक यह समय है इनें बातों का इसमें सोचनीय अभाव हो गया है। परन्तु क्या हम लोग सदा अवनति में पड़े रहेंगे? संसार में ऐसा कोई काम नहीं जो सचमुच उद्योग से न सिद्ध हो सके, परन्तु उद्योग के लिए उत्साह की आवश्यकता है। इसी मानसिक वेग को उत्तेजित करने के लिए कविता उत्तम साधन है।" भूमिका से स्पष्ट है कि गुप्त जी भारत वर्ष की तत्कालीन स्थिति से चिन्तित हैं उन्हें राष्ट्र की प्राचीन गौरव गाथा याद आती है और वर्तमान का तेजहीन स्वरूप। इस तेजहीन स्वरूप को बदलने के लिए गुप्त जी ने भारत-भारती की रचना की। 'पराधीनता के समय 'भारत-भारती' की महत्ता द्विगुनित हो जाती है, क्योंकि एक हीन जाति को इस रचना में उसका गौरवपूर्ण अतीत याद कराया गया है।' वे भारत के प्राचीन महिमा पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि–

हाँ वृद्ध भारत वर्ष ही संसार का शिरमौर है।
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?
भगवान की भवभूति की यह प्रथम भंडार है।
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यही विस्तार।।

स्पष्ट है कि पूर्वजों के इस आदर्श चरित्र के माध्यम से गुप्त जी पराधीनता की पीड़ा से गर्हित भारतीयों में अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति एक सजग, कौतुहल पैदा करना चाहते हैं, जिससे उनका आत्मलोचन प्रखर हो सके वह अपना मार्ग नियत कर सके।

'भारत-भारती' तीन खण्डों में विभक्त रचना है–अतीत खण्ड, वर्तमान खण्ड तथा भविष्यत् खण्ड। तीनों खण्डों के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त ने 'हम कौन थे', 'क्या हो गये हैं', 'क्या होंगे अभी' इन तीनों तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया है। यदि विस्तार की दृष्टि से देखें तो अतीत खण्ड अत्यन्त व्यापक है जो लगभग आधी रचना को समेटता है, वर्तमान खण्ड उससे कुछ कम है, जबकि भविष्यत् खण्ड बहुत कम है।

'भारती-भारती' नवजागरण के उद्‌बोधन का काव्य है। इसमें मूल चिन्ता यही व्यक्त हुई है कि जिस भारत का अतीत इतना गौरव पूर्ण है, वही आज इतना दुर्दशा ग्रस्त क्यों है? जिस प्रकार भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' में गौरवमय अतीत की पृष्ठभूमि पर त्रासद वर्तमान का स्वरूप दिखाया है–'[७]

अब जहँ देखहुँ तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा देखि न देखी जाई।।

वैसा ही दुःख मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में दिखाया है–

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज, मिलकर, ये समस्याएँ अभी।।

अतीत खण्ड में गुप्त जी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विन्दुओं को उठाते हुए उसका अत्यन्त स्पृहणीय चित्रण करते हैं जो पराधीन भारत की सूखती हुई नदियों में रक्त का संचार करने में सक्षम हैं। वे मनुष्य के अन्तरंग चरित्र, दिनचर्या, ब्रह्मबेला में शैय्या छोड़ना, व्यायाम, स्नान के पश्चात् ईश्वर का ध्यान करना, दान करना तथा इसी प्रकार के सभ्यता के बहिरंग चीजों का भी बड़ी बारीकी से विश्लेषण करते हैं। अतीत खण्ड में कवि ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत की सुन्दर झाकियाँ प्रस्तुत की है, जिस प्रकार 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु ने लिखा था–

सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्या फल जिन गहि लीनो।।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।

'भारत-दुर्दशा' की वेदना का प्रसार है–'भारत-भारती'।

सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषि भूमि हैं वह कौन? भारत वर्ष है।

(भारत-भारती, पृ० १०)

भारत में रहने को देवता भी तरसते हैं–

सुरलोक में भी गीत ऐसे देवगण गाते रहे,
हैं धन्य भारतवर्ष वासी धन्य भारत वर्ष है,
सुरलोक से भी सर्वथा उसका अधिक उत्कर्ष है।

सबसे पहले ज्ञान व सभ्यता का विकास भारत में हुआ–

संसार को पहले हमी ने ज्ञान-शिक्षा दान की।
आचार की, व्यापार की, व्यवहार की, विज्ञान की।।

त्याग व दान करना हमारी संस्कृति के प्राणतत्त्व रहे हैं–

वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे।
वे स्वार्थरत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे।

वर्तमान खण्ड में वह अपने समय के भारत की दुर्व्यवस्था का व्यापक चित्रण करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूख और गरीबी ही वर्तमान की स्थिति को बेहतर तरीके से परिभाषित कर सकते हैं। दुर्भिक्ष का सांगोपांग वर्णन ब्रिटिश राज व्यवस्था की अमानवीय नीति पर प्रकाश डाल रहा है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा में आये हुए घोर पतन का विस्तृत चित्रण करते हुए गुप्त जी परोक्ष रूप से देश के राष्ट्रीय पतन का सन्देश देते हैं।

भारत, कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो!
हे पुण्यभूमि, कहाँ गई है वह तुम्हारी श्री कहो?
अब कमल क्या जल तक नहीं, सर मध्य केवल पंक है,
वह राज-राज कुबेर अब हाँ! रंक भी रंक हैं।

गुप्त जी के अनुसार किसी भी समाज या व्यक्ति का समय हमेशा एक-सा नहीं रहता। स्वर्णिम अतीत के बाद भारत का पतन स्वाभाविक था।

संसार में किसका समय है एक सा रहता सदा।
है निस दिवस ही घूमती सर्वत्र विपदा सम्पदा।।
देखो जिधर अब बस उधर ही है उदासी छा रही,
काली निराशा की निशा सब ओर से आ रही है।।

१९वीं सदी के अन्तिम २५ वर्षों में भारत में २८ अकाल पड़े। इसका उल्लेख गुप्त जी ने 'भारत-भारती' के वर्तमान खण्ड में किया है–

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है?
मानो निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक हैं,
निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे,
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके फँसे हैं।।

गुप्त जी ने किसानों की दुर्दशा पर भी विस्तार पूर्वक लिखा है, वे दिखाते हैं कि अंग्रेजी शासन ने किस प्रकार किसानों की जमीन छीन ली और अन्धा-धुन्ध लगान वसूली ने कैसे उन्हें ऋण तथा ब्याज के दुष्चक्र में फँसा दिया।[८] यह वही समस्या है जिसे आगे चलकर प्रेमचन्द ने 'गोदान' में तथा रेणु ने 'मैला आँचल' में सूक्ष्मता से दिखाया है।

हो जाय अच्छी भी फसल पर लाभ कृषकों को कहाँ?
खाते खवाई, बीज ऋण से है रंगे रक्खे कहाँ?
आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अंत में।
अधपेट खाकर फिर उन्हें हैं काँपना हेमन्त में। (भारत-भारती, पृ० ११)
पाला कहीं, ओले कहीं, लगता कहीं कुछ रोग है।
पहले शुभासा, फिर निराशा, दैव! कैसा योग है।। (भारत-भारती, पृ० १००)

गुप्त जी 'भारत-भारती' में किसान जीवन के प्रति संवेदना को प्रभावशाली बनाने के लिए आलोचनात्मक यथार्थवाद की शैली अपनाते हैं–

हा दैव! इस ऋषि भूमि का यह आज कैसा हाल हैं?
तू काल! सचमुच काल हैं? तू क्रूर और कराल हैं।। (भारत-भारती, पृ० १०३)

अतीत और वर्तमान की विवेचना के पश्चात् 'भविष्यत् खण्ड' में मानो वह भारत वर्ष के वस्तुनिष्ठ आलोचन और निष्ठुर प्रत्यालोचन के उपरान्त भारतीयों में आशा की नई किरण का संचार करते हुए एक सूत्र देते हैं–

भागो अलग अविचार से त्यागो कुसंग कुरीति का,
आगे बढ़ो निर्भीकता से, काम क्या है भीति का?
हमको समय को देखकर ही नित्य बदलना चाहिए,
बदले हवा जब जिस तरह हमको बदलना चाहिए।

देश का विकास तभी होगा, जब स्वदेशी उत्पादन क्षमताओं का विकास होगा–

अब तो उठो हे बंधुओं निज देश की जय बोल दो,
बनने लगें सब वस्तुएँ कल-कारखाने खोल दो।
जावे यहाँ से और कच्चा माल बाहर नहीं,
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इंडिया' ही सब कहे।

विज्ञान का तीव्र विकास समय की जरूरत है–

सर्वत्र एक अपूर्व युग का हो रहा संचार है।
देखों दिनों दिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है।।

साहित्य को भी समाज के लिए सक्रिय होना चाहिए–

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का मर्म होना चाहिए।।

राष्ट्रभाषा के विकास के बिना राष्ट्र कैसे एक हो सकता है–

हैं राष्ट्रभाषा भी अभी तक देश की कोई नहीं।
हम निज विचार जान सकें, जिसमें परस्पर सब कहीं।।

ईश्वर से प्रार्थना कि भारत का कल्याण करे–

इस देश को हे दीनबंधो! आप फिर अपनाइये।
भगवान! भारत वर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइये।।

'भारत-भारती' में राष्ट्रकवि गुप्त जी ने देश की जनता जनार्दन को जगाने का जो अथक प्रयास किया, उसमें वे पूर्णतः सफल भी हुए। इस रचना में उन्होंने राष्ट्रीयतापरक विचारधारा की वह अमर रागिनी गुंजरित की, जिसके कारण देशवासियों ने परस्पर स्नेह सम्बन्ध स्थापित किया और राष्ट्र की अखण्डता का व्रत पूरा किया।[९] अतः 'भारत-भारती' अपने समय राष्ट्रीय चेतना के उद्‌बोधन की दृष्टि से अत्यन्त सफल कविता साबित हुई। हिन्दी नवजागरण के व्यापक परिदृश्य में भारत-भारती अधिक अर्थवान एवं प्रासंगिक हो जाती है, क्योंकि गुप्त जी हिन्दी नवजागरण को अत्यन्त शक्तिशाली अभिव्यक्ति दी है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था,

पर बीच-बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई।

२०वीं शताब्दी हो या २१वीं शदी 'भारत-भारती' हर युग के लिए प्रेरणाश्रोत बनी रहेगी। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु ने सर्वप्रथम अपने युग के भारत की स्थिति का यथार्थ चित्रण किया था। इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से साहित्य में चली आ रही दरबारी और रीति के बन्धनों को कमोवेश तोड़कर भारतीय जनमानस में राष्ट्रप्रेम जागने की कोशिश की, कुरीतियों को ध्वस्त किया, अतीत की गौरवपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा के प्रति आसक्ति जगाई, अन्धविश्वासों की होली जलायी, देशी रजवाड़ों की मूर्खता पर व्यंग्य किया, देश की दुर्दशा का करुण चित्रण किया और अंग्रेजों के दमन और शोषण का विरोध किया। जिसका विकसित एवं पल्लवित रूप भारत-भारती के 'अतीत', 'वर्तमान' एवं 'भविष्यत्' खण्ड में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। "भारत-भारती केवल नवजागरण के उद्‌बोधन का काव्य ही नहीं है बल्कि यह अतीत को स्वीकारती अवश्य है पर केवल अतीतोन्मुख न होकर युगीन समाज को वर्तमान और भविष्य से भी जोड़ती है, तथा राष्ट्र की मूर्छित और प्रसुप्त चेतनाओं में नई ज्योति भरकर उन्हें समाजोपयोगी और देशोपयोगी बनाने का प्रयत्न करती है।"[१०]

अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखायेंगे।
वे दिन यहाँ आयेंगे, फिर आयेंगे, फिर आयेंगे।।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली–डॉ० अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ३९७-३९८
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास–बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० १०९
३. मैथिलीशरण गुप्त–रेवती रमण, साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ४७-४८
४. वही, पृ० ५१
५. वही, पृ० ६२-६३
६. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास–डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरिएण्टल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १०४
७. हिन्दी साहित्य का इतिहास–हृदयेश मिश्र एवं शिवलोचन पाण्डेय, भारतीय प्रकाशन, पटना, पृ० १३७
८. आधुनिक कवि–विश्वम्भर मानव, राम किशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० ५६
९. आजकल मासिक पत्रिका, अगस्त २०१७, वर्ष ७३, अंक ४, हिन्दी साहित्य और राष्ट्रीय चेतना, नई दिल्ली, पृ० ११
१०. वही, पृ० २५

–अतिथि प्रवक्ता (हिन्दी-विभाग)
माँ शाकुम्भरी विश्वविद्यालय
सहारनपुर (उ०प्र०)
मो०: ९४५११९५८३६

मुक्तिबोध का जीवन और नई कविता

–सुनील कुमार मिश्र

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' मार्क्सवादी विचारधारा के सशक्त हस्ताक्षर थे। उनके सम्पूर्ण साहित्य में जनचेतना परिलक्षित होती है। उज्जैन में उन्होंने मध्य भारत प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की उनका व्यक्तित्व बहुत उदार, सरल और सजग व जागरूकता का जीता–जागता पर्याय था। उनकी जागरूकता उनके रचना संसार में प्रतिबिम्बित होती है। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को स्वयं रागात्मक विशेषण दिया है और उन्हें भयानक हिडिम्बा भी कहा है जो उनकी रचना–प्रक्रियाओं की प्रकृतिपर प्रकाश डालता है। "बड़ी कविताओं में कवि ने बहुधा मोड़ के अंशों को नाटकीय बनाकर उनके एक रस विस्तार को प्रदीप्त किया है। कुछ कविताओं के शीर्षक भी उन्होंने बदले हैं जैसे 'आशंका के दीप' को 'अँधेरे में' नाम बाद में दिया गया। मुक्तिबोध का स्थान नयी कविता के क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि उन्होंने जटिलतम् संवेदनाओं की सफल सर्जनात्मक अभिव्यक्त की है। उनकी फन्तासियाँ मानवीय चेतन के गहन अन्धलोकों को प्रस्तुत करती हैं। उनकी कविताओं के गहराते हुए अँधेरे और उद्वेलित समुद्र की सम्मिलित प्रतीकात्मक अनुभूति केन्द्रीय प्रतीत होती है। मुक्तिबोध के वैचारिक मानव ने जीवन की जटिलताओं के साक्षात्कार किया है, उनकी रचनाएँ इस बात की साक्षी हैं। चूँकि मुक्तिबोध बचपन से ही मालवा की प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित थे, इसलिए उनकी फन्तासियों में भी व्यक्ति की आवेगात्मक रंगीन मनोरचना ही प्रधान है। उनकी रचनाएँ चिन्तन की अथक यात्रा का प्रतीक हैं।"[१] सामान्यतः प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता आन्दोलन से सम्बद्ध होने के कारण वे समसामयिक लेखन के मूल प्रेरणास्रोत माने जाते हैं। वस्तुतः आज की आलोचनाओं और वर्तमान युगबोध जिसकी कविताओं की परिधि में इर्द–गिर्द मँडरा रहे हैं, ये मुक्तिबोध ही है। गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म १३ नवम्बर, १९१७ को श्योपुर ग्वालियर में हुआ था। उनकी पारिवारिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। जिसके कारण उनकी शिक्षा समुचित तरीके से नहीं हो पायी। १९५४ में आर्थिक संघर्षों को झेलते हुए एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण किया, किन्तु आजीविका के लिए संघर्ष निरन्तर चलता रहा। कुछ समय तक काशी से प्रकाशित 'हंस' नामक पत्र के सम्पादकीय विभाग में कार्य किया। कालान्तर में उनकी नियुक्ति आकाशवाणी के नागपुर केन्द्र में उनकी समाचार विभाग में हो गई। राजकीय सेवा के साथ–साथ उनका साहित्यिक कार्य अनवरत चलता रहा। अपने रचनाकाल में मुक्तिबोध ने देश–विदेश के विभिन्न साहित्यकारों, विचारकों, दार्शनिकों, मनोवेत्ताओं और राजनयिकों का अध्ययन किया। अपने पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य को पढ़ा, परखा और इन सबका अनुशीलन करके एक नये साहित्यिक मापदण्ड निर्धारित किया। मुक्तिबोध की साहित्यिक यात्रा कविताओं के प्रकाशन जब तारसप्तक (१९४३) में हुआ तो

उनकी रचनाओं का संक्रमण काल का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके समानधर्मा कवियों के प्रयोग मोह त्यागकर सोद्देश्य और सार्थक लेखन की ओर अग्रसर हो गये। सामान्यतः नयी कविता का एक विशिष्ट रूप से आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। इसी बीच मुक्तिबोध बीमारी से ग्रस्त हो गये और ११ सितम्बर १९६४ को वे काल-कवलित हो गये। गजानन माधव मुक्तिबोध का काव्य-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' उनके मरणोपरान्त १९६४ में प्रकाशित हुआ। अपनी विशिष्ट विषयवस्तु एवं शिल्प-विधि में यह अपनी उच्चकोटि की एक अभूतपूर्व कृति है। इसमें अधिकांशतः लम्बी कविताएँ संकलित हैं। इन कविताओं से प्रेरित होकर लम्बी कविताओं की एक स्वतन्त्र विधा चल पड़ी है। मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में समकालीन व्यवस्था से सम्बन्धित क्रान्तिकारी वक्तव्य है। मुक्तिबोध की कविताएँ पाठक को आन्दोलित किये बिना नहीं रह सकतीं। काव्य के अतिरिक्त मुक्तिबोध ने कथा-साहित्य एवं आलोचना के क्षेत्र में कई मार्गदर्शक के रूप में कार्य किये हैं। उनकी गद्य-साहित्य की कृतियाँ, 'सतह से उठता आदमी', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नई कविता का आत्म-संघर्ष' तथा अन्य निबन्ध, 'कामायनी एक पुनर्विचार', 'नई कविता का सौन्दर्य शास्त्र', 'काठ का सपना' तथा 'विपात्र' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। मुक्तिबोध की रचनाएँ आस्था और संघर्ष की ताकत देकर जाती हैं, क्योंकि उनमें पलायन का स्वर नहीं है और न दीनता-हीनता दिखलाने वाली गिड़गिड़ाहट है। उन्हें व्यक्ति की 'सामर्थ्य सम्भावना की पहचान' है। उनमें कराहती मानवता की पीड़ा भास्वर हुई है—दहशत, आतंक और अँधेरे के रूप में है। इस पीड़ा में आम आदमी की तस्वीर है भाग्य का रोना नहीं है महबूबा के वियोग का रसीला पीड़ा में आम आदमी की तस्वीर है भाग्य का रोना नहीं है महबूबा के वियोग का रसीला दुःख नहीं है, शय्या पर करवटें बदलते हुए किसी स्त्रैण पूँजीवादी की वेदना नहीं, बल्कि मानवीयता के आधार पर विश्व-दृष्टि देने वाली पीड़ा है। मुक्तिबोध की भीतरी दुनिया तमाम विद्रूपताओं और भयानकताओं को समेटती हुई समकालीन दबावों के बीच जीवन-मूल्यों की तलाश करती है। उनकी भीतरी दुनिया अवास्तविक, वायवीय और हठयोगी शून्य में नहीं भटकती। उन्होंने इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, ब्रह्माण्ड आत्मा जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है, किन्तु वे रहस्यवाद में नहीं खोये। उनकी कविता का मूल स्वर वैषम्य, उत्पीड़न और कुहासे के बीच तीव्र संघर्ष हीनता या कुंठा की पैदाइश नहीं है, वह दृष्टि क्रूरताओं और अँधेरे के चित्र प्रस्तुत करते हुए भी अस्तित्ववादी नहीं है, अतः कवि का मूल्यांकन करते समय मूल चेतना और समग्र सन्दर्भों पर विचार करना आवश्यक होता है।"[२] खुद मुक्तिबोध ने काव्य की दो प्रकार की किस्में मानते हैं।

"यथार्थवादी और भाववादी या रूमानी। कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है। यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत, कलाकृति यथार्थ के अन्तर्नियमों के अनुसर बिम्बों की क्रमिक रचना प्रस्तुत करती हैं। किन्तु भाववादी रोमांटिक शिल्प के अन्तर्गत कल्पना अधिक स्वतन्त्र होकर जीवन की स्वानुभूत विशेषताओं को प्रतीक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करती है।[३] शिल्प भी मुक्तिबोध की दृष्टि में वही श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा 'स्वानुभूत जीवन' के यथार्थवाद के बिम्बों को ही चित्रित किया गया हो, कल्पना का रॉकेट न उड़ाया' गया हो। संचारी भाव का एक करुण बिम्ब मुक्तिबोध ने इस प्रकार से चित्रित किया है—

रवि निकलता
लाल चिंता की रुधिर-सरिता
प्रवाहित कर दिवालों पर,
उदित होता चन्द्र
व्रण पर बाँध देता,
श्वेत-धौली पट्टियाँ
उद्विग्नि भालों पर।
सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए
अनगिन दशमलव से
दशमलव-बिन्दुओं के सर्वतः
पसरे हुए उलझे गणित मैदान में
मारा गया, वह काम आया,
और वह पसरा पड़ा है....
वक्ष-बाँहें खुली फैली
एक शोषक की।[४]

मुक्तिबोध का काव्य-संसार परिमाण में अधिक नहीं है, किन्तु उसकी प्रभावोत्पादकता निर्विवाद है। मुक्तिबोध-सामान्यतः मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित और प्रगतिशील कवि रहे हैं। मुक्तिबोध के सम्बन्ध में नामवर सिंह का मत है कि "यदि मुक्तिबोध की कविता का मैं कभी मन की गुहा में बैठता है कभी अकेलेपन की निराशा में डूबता है और कभी जन-क्रान्ति के स्वप्न में डूबकर मुक्ति का अनुभव करता है तो इसका यह मतलब नहीं कि मुक्तिबोध रहस्यवाद और अस्तित्ववाद के साथ मार्क्सवाद के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। सवाल पूरी कविता के कथ्य के ढाँचे में इन स्थितियों के नियोजन का है और काव्यबोध की समग्रता का तकाजा है, कि इन स्थितियों का मूल्यांकन खण्डशः अलग-अलग वाद के रूप में करने के बजाय उन्हें एक अखण्ड काव्य-कथ्य के अंग के रूप में देखा जाय। इस दृष्टि से देखने पर जाहिर है कि मुक्तिबोध की रहस्यात्मक से रहस्यात्मक कविता भी रहस्यवादी नहीं है, और वैयक्तिक निराशा के गहरे-से-गहरे अन्धकार में डूबी हुई कविता भी अस्तित्ववादी नहीं है।"[५] मुक्तिबोध की कविताएँ व्यवस्था के प्रति विद्रोह आक्रोश और विक्षोभ व संत्रास उनकी कविताओं में प्रमुख स्वर है। उनके मूल में राजनीतिक नारेबाजी न होकर अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक चिन्तन का समावेश है। वे निराला, नागार्जुन की तरह कटु अनुभूतियों से प्रेरित, सामाजिक विषमता से व्यग्र कवि रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन परिवेश का बेबाक वर्णन किया है और उस पर निर्मम प्रहार किया है। मुक्तिबोध का रचना संसार जलते हुए अंगारों पर चलने वाले व्यक्ति की मनोस्थिति का रचना-संसार है। उनकी लम्बी कविताओं में व्यंग्य और विद्रूपताओं का हाहाकार है। उनकी कविताओं के मूल्यांकन की छटपटाहट है और विचार-वेदना का मर्मान्तक स्वर मुखर है–

आत्मचेतरस् किन्तु इस
व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन....
विश्वचेतस् बे-बनाव!!
महत्ता के चरण में था
विषादाकुल मन्।[६]

साहित्य यथार्थवाद मानव-जीवन के अधिक समीप होने से विश्व की विविध भौतिक समस्याओं का साहित्य में समावेश होने लगा। भुखमरी, बेरोजगारी, सामाजिक शोषण एवं राजनीतिक धर्म की नवीन व्याख्या, मानवतावादी भावना, नारी उत्थान आदि अनेक नवीन समस्याओं और विषयों का नवीन प्रकार से नवीन भावनाओं और चिन्तनों के माध्यम से प्रकटीकरण, सरलीकरण और प्रत्यारोपीकरण होन लगा। परिणामस्वरूप उत्कंठा और संत्रास व आक्रोश विविध रूपों के माध्यम से सामने आने लगा। "तारसप्तक" में संकलित रचनाओं तथा "चाँद का मुँह टेढ़ा है" संग्रह की कविताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि मुक्तिबोध में अपनी रचनाओं में जीवन के वैविध्यमय विकास स्रोत को देखा है। उन्होंने जो भोगा है, सो लिखा है और जो लिखा है सो भोगा है, रचना और जिन्दगी का अन्तराल उनमें नहीं रहा। उन्होंने स्वयं स्वीकारा है काव्य कोा मैं उतना ही समीप रखने लगा जितना कि स्पंदन इसीलिए काव्य को व्यापक करने की अपनी जीवन-सीमा से उसकी सीमा को मिला देने की चाह दुर्निवार होने लगी।"[७] मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं में अक्सर उनका 'एकान्तिक सहचर' पाया जाता है। जिसे शमशेर बहादुर सिंह ने 'साथीपन का भाव' का है। यह आत्मा का मित्र जिसे मुक्तिबोध ने 'एकाकीपन' के अन्यतम प्रतिरूप और बुद्धि की मेरी शलाका के अरुण तक नग्न जलते तेज, कर्म के चिर वेग में उर-वेग के उन्मेष विश्वास का वरदान कहा जाात है। वह दरअसल मुक्तिबोध को जलते तारक-सी घोर एकान्त में परिचय को मधुरगान की संवेदना बन जाती है, वह प्रगतिशील पथ का सहारा देती है। इसीलिए मुक्तिबोध को प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास जताते हैं-

वह छिपा प्रत्येक उर में,
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद जैसे बादलों के
बाद भी है, शून्य नीलाकाश।
उसमें भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा,
जो कि अपनी ही स्वयं बन चलाचित्र
भीतिहीन विराट-पुत्र।[८]

मुक्तिबोध ने मानवीय आस्था को लेकर चलने वाला कवि जीवन-बोध की निरन्तर तलाश के लिये सहज अन्वेषी और विद्रोही होता है। वह नयी चिनगारियों से 'नवस्वप्न का आलोक' प्राप्त करता है। सामान्यतः मुक्तिबोध जलते स्पंदनों के कवि हैं-

जिस देश प्राणों की जलन में
एक नूतन स्वप्न का संचार हो,
ओ हृदय मेरे उस ज्वलन की भूमि में बिछ,
जा स्वयं ही,
ओ तड़प कर उस निराले देश में तू खोल आँखें।[९]

इस प्रकार मुक्तिबोध ने तत्कालीन समाजाधिपतियों ने ज्ञान के दरवाजे बन्द कर लिये थे उसी प्रकार आज भी समाज में तमाम बेरोजगार अवसर विहीन जीनियस हैं जिनके विकास के रास्ते बन्द हैं। इन्हीं में से बहुत कुछ ऐसे भी हैं जो समस्त विघ्न बाधाओं के बावजूद मानव-मुक्ति की मशाल जलने की कामयाबी पा ही लेते हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में मध्यवर्गीय चेतना मानवीय धरातल पर शोषित और दलित के साथ संलग्न होती है। यह वर्ग चेतस या वर्ग प्रसारित स्थिति है। वह 'बेनाम, बेमालूम' विद्राही गुप्त ढंग से साथियों की खोज करता है, अँधेरी घाटियों के टीलों में छिपकर शान्ति की तैयारी करता है।

हमारी हार का बादल चुकाने आयेगा
संकल्प-धर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का स्वर्गाक्षर
प्रकट होकर हो जायेगा।[१०]

मुक्तिबोध ने गरीबी और भुखमरी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इन विभीषिकाओं को अनुभूत किया है। वास्तव में कवि स्वयं इन विभीषिकाओं को बराबर से हिस्सेदार रहा है उसे भी भूख, अतृप्ति, विडम्बना और निराशा का मुख समय-समय पर देखना पड़ा है। मुक्तिबोध का स्वर और शब्द दोनों की भावनाओं के साथ अभिव्यक्ति हुआ है। मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ आत्मपरख हैं पर आत्मग्रस्त नहीं। उनकी चिल्लाहट में वैयक्तिक यथार्थ भी है और जमाने का दर्द भी। अपनी विचार वेदना से उन्मथित रहने के कारण उन्होंने उच्च-उदात्त काव्य-कौशल की चिन्ता नहीं की। वहाँ कथ्य प्रधान है न कि शिल्प। उनकी कविताओं में कवि मानस से रिस रहे ज्ञान का तनाव प्रकट हुआ। यही मुक्तिबोध का वैशिष्ट्य है। वस्तुतः विषाद के स्वर के आग के अक्षरों से क्रान्ति की कथा लिखने वाला ऐसा दूसरा कोई कवि हिन्दी में नहीं है।"[११] सामान्यतः मुक्तिबोध का 'व्यक्तित्व' हो चाहे उनकी 'सृजन-प्रक्रिया' चाहे 'समीक्षा पद्धति' इन तीनों की एकरूपता नयी कविता में मुक्तिबोध के अलावा और कहीं दिखलाई नहीं देता है। इस पर धनंजय वर्मा ने तो इसे "आगत कविता" की भी व्याख्या स्वीकार किया है। मुक्तिबोध ने जनवादी ताकतों व (प्रगतिशील शक्तियों) को भली-भाँति पहचानकर उनके अनुरूप स्वस्थ्य परक वैचारिकता दी है। जहाँ पर अन्य कवि आस्था से अनास्थ की ओर पलायन करते हैं। वहीं मुक्तिबोध अनास्था से आस्था की ओर मुड़ते हैं, उन्होंने युग-जीवन के वैषम्य उत्पीड़न और संघर्षों को भोगकर एवं समझकर भी मानववीय आस्था को टूटने नहीं दिया। एक-दूसरे पर जहर उगलने वाले मध्य वर्गीय बौद्धिक अहंकारियों के प्रति मुक्तिबोध ने लिखा है, "मैं अपनी

अनास्था से शुद्ध होकर आस्था में आ जाता हूँ, वे आस्था से शुरू होकर अपने अनजाने की, या जानते में भी मात्र शुद्ध अनास्था में विलीन होने लगते हैं। यह अच्छी बात नहीं है।"[१२] मुक्तिबोध असन्तोष और आत्मपराजय के भाव से अपने आपको लुटा-पिटा का जीवन अनुभव करते हैं। वे विपरीत परिस्थितियों में आत्मसंघर्ष से विरक्त नहीं होते, बल्कि लगातार संघर्ष करते रहते हैं। यही कारण है कि मुक्तिबोध अपनी बौद्धिक और शारीरिक दोनों शक्तियों की क्षीणता को स्वीकार कर लेते हैं। मुक्तिबोध यह भी स्वीकार करते हैं कि अधिक समय तक मानव जीवन की सार्थकता नहीं है, मानव जीवन की सफलता सार्थक जीवन है, मुक्तिबोध उसी जीवन को सार्थक बनाने पर जोर देते हैं, जिसमें हर पल हर क्षण परिपूर्णतः व्याप्त रहें। गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपने एकांतपन के गहन असन्तोष के 'अन्तदर्शन' कविता में स्पष्ट रूप और पर्याप्त रूप से व्यक्त किया है–

मैं अपने में ही सब खोया तो अपने से ही कुछ पाया।
निज का उदासीन विश्लेषण आँखों में आँसू भर लाया।।
मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही।
गहरे असन्तोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही।।
आत्मवंचना-पीड़ित मेरा तिमिर-मगन उर बिम्बित मुख पर।
सिहर उठा मैं अश्रु-मलिन-मुख अपने अन्तर के दर्शन कर।।[१३]

कवि के व्यक्तिगत आत्मसंघर्ष और सामाजिक दंश को झेलते हुए कवि कर्म से कभी समझौता नहीं किया है। वह मानव-जीवन की सर्वव्यापकता को और अधिक व्यापक बनाने के लिए आजीवन संघर्षरत रहता है जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिस पक्ष को अपनी लेखनी के द्वारा जग-जाहिर न किया हो। अपने भावों की अभिव्यक्ति हेतु उन्होंने गद्य और पद्य दोनों विधाओं का समानाधिकार के साथ अनुशरण किया है। मुक्तिबोध अपनी अमर लेखनी के द्वारा अपने रचना-संसार को जन-मानस और मन को मालवीय बनाने की सार्थक प्रयास किया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य भोगा हुआ सत्य है और सामाजिक सरोकारों से परिपूर्ण है। मुक्तिबोध अपने बहुआयामी व्यक्तित्व और जन-मानस से जुड़े हुए अमर साहित्य के लिए सदैव याद किये जायेंगे। उनका विलक्षण साहित्य सर्वहारा वर्ग के जीवन स्तर पो उठाने में उनका मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. कवित्तान्तर–डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० ३८-३९
२. नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर–डॉ० सन्तोष कुमार तिवारी, पृ० ९२
३. कामायनी : एक पुनर्विचार–मुक्तिबोध, पृ० ३
४. मुक्तिबोध संचयन–राजेश जोशी, पृ० १८१
५. कविता के नये प्रतिमान–प्रो० नामवर सिंह, पृ० २५९
६. मुक्तिबोध संचयन–राजेश जोशी, पृ० १८२

७. तारसप्तक–अज्ञेय, पृ० ६
८. तारसप्तक–अज्ञेय, पृ० १३
९. तारसप्तक–अज्ञेय, पृ० १४
१०. चाँद का मुँह टेढ़ा–मुक्तिबोध, पृ० ५
११. आधुनिक हिन्दी काव्य–डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित, पृ० ५४
१२. नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर–डॉ० सन्तोष कुमार तिवारी, पृ० १२७
१३. मुक्तिबोध समग्र खण्ड-१–सं० नेमिचन्द्र जैन, पृ० ११९

–शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
एम०एम०पी०जी० कॉलेज
मोदीनगर, गाजियाबाद
सबंद्ध-चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
मो० : ७६०७१४३६४०
शोध-निर्देशक
डॉ० विजय बहादुर त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर
मुल्तानीमल पी०जी० कॉलेज
मोदीनगर, गाजियाबाद

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कविताओं में अभिव्यक्त सांस्कृतिक सौन्दर्य

–सोनम कुमारी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विशेष ख्याति आलोचक, निबन्धकार और इतिहासकार के रूप में रही है कवि के रूप में कम। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी काव्य रचनाओं की संख्या बहुत कम है और कुछ है भी तो या तो फुटकल है या प्रकाशित नहीं हुई है।

आचार्य शुक्ल सांस्कृतिक सौन्दर्य के रचनाकार के रूप में माने जाते हैं। इनकी कविताओं में देश–प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य, सांस्कृतिक सौन्दर्य और प्रेम सम्बन्धित विषय मिलते हैं। आचार्य शुक्ल का काव्य के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त ही सूक्ष्म था जो लोकहित के लिये था। 'कविता क्या है?' निबन्ध में शुक्ल जी कविता के विषय में अपने विचार को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ–सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक–सामान्य भाव–भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।"

आचार्य शुक्ल का संस्कृति के प्रति दृष्टिकोण भारतीय साहित्य और समाज के गौरवमय अतीत के प्रति गहरी श्रद्धा का परिचायक है। हमारा अतीत कितना गौरवमय था, जिससे वर्तमान समाज में प्रेरित होना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने काव्य साधना को भावयोग कहा है और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष माना है। उनकी काव्य–सम्बन्धी धारणा सांस्कृतिक परिवेश पर बल देती है। वे कविता को शेष सृष्टि के साथ रचनात्मक सम्बन्ध की रक्षा एवं निर्वहन का माध्यम मानते हैं।

आचार्य शुक्ल शब्द–क्रीडा, रस तथा अलंकार से युक्त होने पर कविता का रूप क्षीण मानते हैं। उनका मानना है कि कविता ऐसी होनी चाहिए, जिसमें लोक सामान्य के हृदय का उद्‌गार हो। जिसमें भावुक हृदय की अभिव्यक्ति हो।

आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रारम्भिक कविताएँ मिर्जापुर में लिखी थी, जिसमें उनका प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण दिखता है। आचार्य शुक्ल प्रकृति–प्रेम को सच्चे कवि की संस्कारगत विशेषता मानते हैं। "हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।"

शुक्ल जी के जीवन का आरम्भिक समय मिर्जापुर के विन्ध्य हिमालय के बीच व्यतीत हुआ है।

ऐसे में उनका प्रकृति के प्रति प्रेम आकर्षित होना स्वाभविक है। शुक्ल जी महाकवि वाल्मीकि और कालिदास के प्रकृति चित्रण से प्रभावित है।

आचार्य शुक्ल लोकमंगल की साधनावस्था में भगवान राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं और तुलसीदास को इसी कारण सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में स्वीकार करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मौलिक और अनुदित दोनों प्रकार की काव्य-रचना की है। मौलिक कविताओं में 'भरत और वसन्त', 'देशद्रोही', 'आशा और उद्योग', 'वन्दना', 'हमारी हिन्दी', 'हर्षोद्‌गार', 'रानी दुर्गावती', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'भारतेन्दु जयन्ती', 'आमन्त्रण', 'गोस्वामीजी और हिन्दू जाति', 'विनती' तथा अनुदित काव्य 'बुद्ध-चरित' में सांस्कृतिक सौन्दर्य का वर्णन मिलता है।

'भारत और वसंत' कविता में शुक्ल जी ने नाटकीय पद्धति द्वारा भारत और वसन्त के बीच के संवाद को प्रस्तुत किया है। जिसमें भारत वंसत के सामने अपनी वर्तमान दीन-दशा का वर्णन करता है, जिसे वसंत उसके अतीत की स्मृति को बताता है।

कौन आस धरि, हे बसन्त आजु फेरि तुम आये।
हरे-हरे द्रुमतल बहु लीने सुमन भार लदवाये?
वे दिन सपने भये हाय। अब आवहु तुम यहि द्वारे।
सुख सम्पत्ति से भरे हमारे सुत उमंग के मारे।।[३]

इसका उत्तर वसन्त देता है–

विविध विद्या कला कौशल जगत् में फैलाय।
कियो अपने जान तो उपकार ही इन हाय।।

इससे स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी को अपने अतीत से गहरा जुड़ाव था। तत्कालीन समय में अंग्रेजी उपनिवेश से पूरा देश परतन्त्र था ऐसे में कवि का अपने अतीत का गौरव गान देश की जनता को जागृत करने वाला ही है।

आचार्य शुक्ल अपने अतीत की संस्कृति से प्रभावित होते हुए कहते हैं कि "अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण है। वर्तमान हमें अन्धा बनाये रहता है; अतीत बीच-बीच में हमारी आँखे खोलता रहता है।"[४]

शुक्ल जी को अपनी संस्कृति के पतन को देखकर निराशा उत्पन्न हो रही थी जिससे जाति और संस्कृति के उत्थान को लक्ष्य में रखकर उन्होंने 'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' नामक कविता लिखी थी। इस कविता में उन्होंने तुलसीदास को लोकमंगल के कवि के रूप में प्रस्तुत किया है। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में शुक्ल जी महाकवि तुलसीदास के विषय में कहते हैं कि "भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को।"[५]

'गोस्वामी जी और हिन्दू जाति' कविता में वे कहते हैं–

रंजन करना साधुजनों का, दुष्टों को दहलाना,
दोनों रूप लोकरक्षा के हैं, यह भूल न जाना।
उभय रूप में देते हैं जिसमें भगवान दिखाई,
वह प्राचीन भक्ति तुलसी से फिर से हमने पाई।।[६]

गोस्वामी जी के लोक-संग्रह की भावना से शुक्ल जी बहुत प्रभावित थे, इस काव्य में शुक्ल जी में अपनी संस्कृति के प्रति एक विराट मोह दिखता है। भगवान राम तुलसीदास के प्रिय हैं और तुलसीदास शुक्लजी के इसलिए शुक्लजी ने तुलसीदास द्वारा राम के गठित शील, शक्ति और सौन्दर्य के प्रति तत्कालीन जनता का ध्यान आकृष्ट कर अपनी विराट सांस्कृतिक सौन्दर्य को दिखाया है। भक्तिकाल में भी अपने पौरुष से हताश जनता को जागृत करने के लिए तुलसीदास ने भगवान राम जैसे युगबोधक चरित्र का चयन किया और पुनर्जागरण के समय उन्हीं तुलसीदास के माध्यम से हताश जनता के सामने शुक्ल जी ने एक नवीन प्रेरणा को रखा है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के प्रति शुक्ल जी के मन में अगाढ़ श्रद्धा थी। भारतेन्दु जी अपने साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से न सिर्फ हिन्दी साहित्य को एक विशाल निधि प्रदान किये बल्कि उन रचनाओं के माध्यम से देश-प्रेम को भी जागृत किये। भारतेन्दु जी के जन्म-तिथि पर शुक्ल जी 'भारतेन्दु-जयन्ती' नामक कविता पढ़े, जो निम्न है–

इसी बीच 'भारतेन्दु' कर बढ़े विशाल उदार।
हिन्दी को दे लगाया नए पंथ के द्वार।।[७]

'विनती' कविता शुक्ल जी की बहुत ही महत्त्वपूर्ण कविता है। इसी कविता के गायन से प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन (१९१० ई०) का प्रारम्भ हुआ। जिसे बाबू हरिदास माणिक ने प्रस्तुत किया था।

जय जय जय जग नायक करतार।
करत नाच कर जोरि आज हम विनती बारम्बार।
प्रात समीर सरित भारत महँ हिन्दी करै प्रसार।। जय जय.....

शुक्ल जी की अनुदित कविता 'बुद्धचरित' है। सर एडविन आर्नाल्ड द्वारा रचित 'द लाईट ऑफ एशिया' का 'बुद्धचरित' नाम से ब्रजभाषा में शुक्ल जी ने अनुवाद किया। यह आठ सर्गों में रचित एक प्रबन्ध काव्य है। जिसमें बुद्धदेव के जन्म से लेकर परिनिर्वाण तक की कथा का वर्णन है। इस काव्य में सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का वर्णन कर शुक्ल जी ने हमारी एक अमूल्य संस्कृति को प्रस्तुत किया है–

जहँ बोधि-ज्याति प्रकाश भइ सो थल विलोकन चाहिए,
तो चलि 'सहस्त्राराम' सों वायव्य दिशि को जाइए।
करि पार गंग कछार पाँव पहार पै धारिए वही,
जासौ निकसि नीरंजना की पातरी धारा वही।[९]

आचार्य शुक्ल की कविताओं में संस्कृति अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ उपस्थित है। अपनी कविताओं में उन्होंने अनेक महापुरुषों के माध्यम से संस्कृति को सजीवता प्रदान की है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. चिन्तामणि भाग-१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, १९५९, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ६५
२. रसमीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, १९४९, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ४
३. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली, भाग-६—नामवर सिंह, २०१६, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ८६
४. रामचन्द्र शुक्ल संचयन—नामवर सिंह, १९८८, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ० १०३
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, २००२, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पृष्ठ ९१
६. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली, भाग-६—नामवर सिंह, २०१६, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १२३
७. वही, पृ० ११९
८. वही, पृ० १२४
९. वही, पृ० ३४२

—शोधार्थी
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

तृतीयलिंग विमर्श का इतिहास

–अनुराधा सिंह

उत्तर आधुनिकता का यह चरण साहित्य के परिप्रेक्ष्य में बदलाव का युग कहा जा सकता है। आज हमारे समक्ष न केवल आदिवासी, दलित, वृद्ध, पारिस्थिकी, अल्पसंख्यक, किसान जैसे नये विमर्श अपनी समस्याओं एवं चुनौतियों को लेकर मुखरता से अपनी अभिव्यक्ति प्रकट कर रहे हैं, बल्कि इसके साथ-साथ एक ऐसा विमर्श भी अपनी आवाज को बेबाकी से प्रस्तुत कर रहा है जो हमारे समाज में पशुओं से भी बदतर जीवन जीने एवं मानवता के तमाम अधिकारों व सम्मान से वंचित हाशियाकृत रहने को विवश है। वे हैं समाज का तृतीयलिंगी मनुष्य, जो समाज द्वारा तय मानकों के अनुकूल यौन-क्रिया एवं सृजन की प्रक्रिया का भागीदार न बन पाने के कारण समाज व परिवार से बहिष्कृत अभिशप्त व तिरस्कृत समझा जाता है। तृतीयलिंगी व्यक्तियों को भारत के अलग-अलग प्रान्तों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनके सम्बन्ध में हिजड़ा, छक्का, किन्नर, थर्डजेण्डर, कोती, पवैय्या, थिरुनानगई, मामू, ख्वाजासराय जैसे सम्बोधन देखने को मिलते हैं। तृतीयलिंगी व्यक्ति आज अपने हिस्से के अधिकार व समाज में ससम्मान उपस्थिति के लिए संघर्षरत है। जबकि इतिहास में यह समुदाय ईश्वर के समान पूजनीय व समाज के सभी वर्गों के साथ ऊँचे ओहदों पर आसीन होता था। हिन्दू, बौद्ध, जैन ग्रन्थों एवं प्राचीन पुराणों, उपनिषदों में भी इनके सम्बन्ध में प्रामाणिक साक्ष्य देखे जा सकते हैं।

किन्नर समुदाय की विस्तारपूर्वक चर्चा मनोवैज्ञानिक 'सेक्स' के रूप में जैन साहित्य में मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ 'विनयपिटक' में किन्नर समुदाय को आध्यात्मिक विकास का अवसर प्रदान था, ऐसा वर्णन दिखाई देता है। विष्णु पुराण में उल्लेखित है–'मार्ग में यदि तृतीय लिंगी व्यक्ति से भेंट हो जाए तो व्यक्ति की सम्पूर्ण बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं। कालिदास द्वारा रचित खण्डकाव्य 'कुमार सम्भवम्' में किन्नरों को शूद्र के रूप में उल्लेखित किया गया है। प्राचीन साहित्य में मनुष्य की प्रकृति पर विचार करते हुए 'किन्नर' को 'तृतीयलिंगी' या नपुसंक के रूप में सम्बोधित किया गया है। हिन्दू पौराणिक ग्रन्थ 'महाभारत' एवं 'रामायण' में इनका विस्तृत सन्दर्भ प्राप्त होता है। महाभारत में कृष्ण के मोहिनी रूप, अरावन देवता, अर्जुन का वृहन्नला छद्मवेश शिखण्डी जैसे उदाहरण देखे जा सकते हैं। महाभारत की कथा का प्रसंग बहुत प्रचलित है जब कौरवों की जीत सुनिश्चित करने के लिए एक मनुष्य की बलि आवश्यक थी तब इस बलि के लिए अर्जुन व उलूपी के पुत्र 'अरावन' स्वयं को बलि हेतु प्रस्तुत करता है, परन्तु अपनी शर्तानुसार उसे एक दिन के वैवाहिक सुख के लिए एक कन्या की आवश्यकता थी। परन्तु कोई भी राजा अपनी पुत्री का विवाह अरावन के साथ करने को तैयार नहीं हुआ, क्योंकि अगले दिन की परिणति से सभी लोग परिचित थे। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण मोहिनी रूप धारण करके अरावन से विवाह करते हैं और अगले दिन अरावन अपनी बलि युद्ध में विजय प्राप्ति हेतु दे देता है। तब से लेकर

आज तक देश-विदेश के सभी तृतीयलिंगी व्यक्ति अपने पति अरावन के लिए १८ दिन का कुलांगम महोत्सव मनाते हैं।

इस कथा के अतिरिक्त अर्जुन का वृहन्नला वेश धारण करके गुप्त अवधि में रहना, 'शिखण्डी' के अवतार के कारण भीष्म पितामह का वध किया जाना जैसी पौराणिक किवदन्तियाँ किन्नरों के स्वर्णिम ऐतिहासिक चरण की ओर संकेत करती हैं। इसके अतिरिक्त रामायण में भी इनका सन्दर्भ दिखाई देता है। जब राम लक्ष्मण व सीता के साथ वन में जा रहे थे तो सभी अयोध्यावासी उनको विदा करने वन तक आते हैं और राम सभी अयोध्यावासी के नर-नारियों को कुशळतापूर्वक वापस लौटने का आदेश देते हैं। राम जब १४ वर्ष पश्चात् पुनः अयोध्या वापस लौटते हैं तो उन्हें वन के पास कुछ मनुष्यों के निवास करेन पर पता चलता है कि उनके आदेश से नर व नारियों के अतिरिक्त 'तृतीयलिंगी' व्यक्ति कोई आदेश न प्राप्त करने के कारण उनकी आज्ञा से वहीं निवास कर रहे होते हैं। राम उनकी भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हाते हैं और उन्हें वे आशीर्वाद देते हैं भविष्य में कोई भी शुभ कार्य उनके (तृतीयलिंगी) आशीर्वाद के बिना फलित नहीं होगा।

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोई।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोई।।[१]

इसलिए हमारे समाज में यह समुदाय हमारे वैवाहिक आचारों एवं सन्तान सुख प्राप्त होने पर हमारे मंगल कार्यों में अपना आशीर्वाद प्रदान करते हैं। परन्तु कैसी विडम्बना है हम इनकी शुभाकांक्षाओं के परिणामस्वरूप इन्हें तिरस्कार व अपमान भेंट स्वरूप प्रदान करते हैं।

बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में भी इनका जिक्र मिलता है। इनके कार्य, निवास-स्थान व इनके जनक आरिष्ठा व कश्यप की जानकारी मिलती है। 'कादम्बरी' में इनके सन्दर्भ में कहा जाता है कि ये शंकर की सेवा में नियुक्त रहते थे। तृतीयलिंगी यक्ष, अप्सराओं एवं गन्धर्वों की तरह नृत्य व गायन में दक्ष थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में इनका उल्लेख अश्वमुखी मानव शरीर वाले किन्नर के रूप में मिलता है। तृतीयलिंगी व्यक्ति को 'मानवमुखी पक्षी' बौद्ध साहित्य में माना गया है।

तृतीयलिंग के जन्म, व्यवसाय व यौन-क्रिया पर विस्तृत प्रकाश वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में भी देखने को मिलता है। कामसूत्र के दूसरे अधिकरण का नवाँ अध्याय 'औपरिष्टक प्रकरण' नपुंसक के काम-क्रिया के सम्बन्ध है। वात्स्यायन नपुंसक को पाँचवीं नायिका मानते हैं और इनके दो रूप-पुरुष रूपधारी, स्त्री रूपधारी स्वीकार करते हैं-

द्विविधा तृतीयाप्रकृतिः स्त्री रूपिणीपुरुषरूपिणी च।[२]

यद्यपि तृतीयलिंगी व्यक्ति का उल्लेख वात्स्यायन के ग्रन्थ कामसूत्र में दिखाई देता है। अपनी जीविका का निर्वाह करने एवं समाज में अपनी उपयोगिता बनाये रखने के लिए इस तरह का कार्य किन्नरों द्वारा किया जाता रहा होगा। यह उनकी श्रेष्ठतम् स्थिति का द्योतक तो नहीं हो सकता है। उस समय का समाज भी केवल 'सेक्स' को मान्यता देता था। व्यक्ति की उपयोगिता व सार्थकता उसकी यौनिकता पर निर्भर प्राचीनकाल से वर्तमान समय तक माना जाता है। इस प्रकार की पुंसवादी विचारधारा

व घृणित मानसिकता एक पूरे स्वस्थ समुदाय को जीवन–जीने के तमाम सलीके व समाज की सुव्यवस्थित सभ्यता से काटकर नारकीय व एकाकी जीवन जीने को विवश कर देती है। किन्नरों का ऐसा इतिहास स्वर्णिम तो नहीं कहा जा सकता है।

तृतीयलिंगी प्रकृति के मनुष्यों का सन्दर्भ भारतीय पौराणिक ग्रन्थों जैसे–ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण आदि में भी देखने को मिलता है। ब्रह्मपुराण में तृतीयलिंगी 'सुद्युम्न' का परिचय, श्री विष्णुपुराण में शिव के अर्धनारीश्वर रूप की परिकल्पना, श्रीमद्भावगत महापुराण में विष्णु के मोहिनी रूप की चर्चा आदि देखने को मिलती है। अग्निपुराण में शिशु के गर्भ की अवस्था का भी उल्लेख मिलता है–''यदि गर्भ का बालक नपुंसक हो तो वह उदर के मध्य भाग में होता है, कन्या हो तो वाम भाग में और पुत्र हो तो दायें भाग में रहा करता है।''[३]

प्राचीन भारत के पश्चात् जब हम मध्यकालीन भारत के इतिहास पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि मुस्लिम काल किन्नरों के लिए 'गोल्डेन एरा' माना जा सकता है। तुर्कों का साम्राज्य हो या फिर मुगलों की बादशाहीयत दोनों समय काल में किन्नरों को समाज में ऊँचे ओहदे व सम्मान प्राप्त था। किन्नरों को महल में हरम की रक्षा की जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। इसके अतिरिक्त वेश बदलने की कला में पारंगत होने के कारण इनसे गुप्तचरी की भी सेवा ली जाती थी। मुगल काल में तृतीयलिंगी व्यक्ति की नियुक्ति युद्ध में भी की जाती थी। मलिक काफूर–ऐसा ही ख्वाजासराय था, जो अपनी काबिलियत के दम पर शासक का सबसे प्रिय हो गया था। इसके अतिरिक्त इतिहास में 'मलिक सरवर' का भी जिक्र मिलता है, जिसने 'जौनपुर' राज्य की स्थापना की थी। अकबर के अलावा औरंगजेब ने भी अपने दरबार में हिजड़ों की नियुक्ति की थी। हिजड़ों की श्रेणियों पर प्रकाश डालते हुए डॉ. विजयेन्द्र प्रताप सिंह अपने लेख में लिखते हैं–''तुर्क साम्राज्य में अन्तःपुर या हरम की देखभाल करने के लिए हिजड़ों की दो श्रेणियाँ हुआ करती थी। प्रथम 'सफेद हिजड़े', जिन्हें बाल्कन राज्यों से लाया जाता था ताकि ये लोग खास लोगों की सेवा अच्छी तरह कर सकें। द्वितीय 'काले हिजड़े' जो कि अधिकांशतः अशिक्षित या अल्पशिक्षित होते थे तथा ये निचले पायदान की नौकरियों के साथ अधिकारियों की सेवा करते थे।''[४]

मुस्लिम इतिहासकार की पुस्तकों जैसे–तबकात–ए–अकबरी, आइने अकबरी, वाक्यिाते मुश्ताकी, इसके अतिरिक्त विदेशी लेखकों जैसे पीटर–मुण्डी, बर्नियर, मनूची आदि ने भी हिजड़ों के स्वर्णिम इतिहास का उल्लेख किया है। ''आइने अकबरी में लिखा है–''ख्वाजासरा बंगल से आते हैं। ये तीन तरह के होते हैं, एक तो संदली, दूसरे बादामी एवं तीसरा काफूरी। संदली के पुरुषाकर (तीनों आकार) ही जड़ से काट देते हैं, जिसको अतलसी भी कहते हैं। बादामी के थोड़ा लिंगकार होता है। काफूरी के पोतवाल बचपन में ही कुचल दिया जाता था या निकाल लेते थे। यह मान्यता रही है कि मनुष्य के अतिरिक्त जिस जानवर को खस्सी करते हैं उसकी सरकशी जाती रहती हैं और आदमी की बढ़ जाती है।''[५]

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि मुस्लिम आक्रमणकारी शासकों का समय हिजड़ों के लिए स्वर्णिम दौर रहा है। मुस्लिम शासकों ने हिजड़ों से सैनिक, प्रशासनिक, घरेलू, सलाहकारी आदि सभी प्रकार की सेवाएँ प्राप्त की। मुस्लिम शासकों का अनुसरण करते हुए कई राजपूत शासकों ने भी किन्नारों की

नियुक्ति अपने दरबार में हरम के कार्यों में की। हिजड़ों ने न केवल युद्धों में विजय प्रप्त करके अपने शौर्य का परिचय दिया, बल्कि प्रशासनिक पदों पर रहते हुए अपनी कुशाग्र बुद्धि का भी लोहा मनवाया।

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् हिजड़ों की स्थिति बद से बदतर होती चली गई। १८५७ की क्रान्ति में तृतीयलिंगी व्यक्तियों ने देश के प्रति भी अपनी भक्ति जागृत करते हुए बहादुरी के साथ प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में अपनी वीरता का परिचय दिया। आगे चलकर विदेशी हुकूमत ने हिजड़ों की जिन्दगी को नारकीय बना दिया। १८७१ के 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' के तहत इन्हें 'जयराम पेशा जनजाति' की श्रेणी में डाल दिया। आगे चलकर स्वतन्त्र भारत में इस अमानवीय कानून को निरस्त कर दिया और इनकी बेहतरी के लिए सराहनीय प्रयास किये गये। २०१४ में सर्वोच्च न्यायालय ने तृतीयलिंगी व्यक्ति की पहचान 'तीसरे लिंग' के रूप में घोषित की और इनके अधिकार और कल्याण के लिए अनेक कल्याणकारी सुझाव दिये।

विविध पौराणिक व ऐतिहासिक प्रसंगों का सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि समाज में उपेक्षित व हाशियाकृत हिजड़ा वर्ग का इतिहास अत्यन्त समृद्ध रहा है। न केवल देवताओं के साथ उनका सम्बन्ध दिखायी देता है बल्कि समाज में इन्हें शिष्ट व ऊँचा स्थान प्राप्त था। अतः आवश्यकता है कि हम ऐसे सराहनीय प्रयास करें ताकि यह पूरा समुदाय आज अपने स्वर्णिम इतिहास को फिर से प्राप्त कर सके तथा समाज व देश के विकास में अपनी पूरी कुशलता के साथ सहयोग कर सके।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड-८७(क)–तुलसीदास
२. किन्नर : सेक्स और सामाजिक स्वीकार्यता–प्रियंका नारायण, प्रथम संस्करण २०२१, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० १०८
३. अग्नि पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० ८१३
४. थर्ड जेण्डर अस्मिता और संघर्ष–डॉ० विजयेन्द्र प्रताप सिंह, डॉ० रवि कुमर गोड़, संस्करण प्रथम २०२०, अमन प्रकाशन कानपुर, पृ० ३२
५. भारतीय इतिहास में थर्ड जेण्डर : नाजिर (हिजड़ा) वर्ग–प्रो० एस०पी० व्यास, संस्करण २०१८, एसोसिएट बुक कम्पनी, जोधपुर, पृ० २२

–शोधार्थी
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज, (उत्तर प्रदेश)

बलराम की कहानियों में कृषक जीवन का संघर्ष

–पवन कुमार शर्मा

साहित्य में कृषक जीवन का अति महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रत्येक राष्ट्र के विकास तथा समृद्धि में वहाँ के किसानों का अमूल्य योगदान होता है। उनके परिश्रम और त्याग की ही सिद्धि है कि जिससे राष्ट्र सम्पन्नता की ओर अग्रसर होता है। भले क्यों न किसान स्वयं की खेती करता है, परन्तु वह सामूहिक रूप से राष्ट्र के भरण–पोषण को भी पूरित करता है। किसान अपना सम्पूर्ण जीवन कृषि कार्य को समर्पित कर देता है। उसके इस त्याग और संघर्ष की प्रशंसा जनमानस तो करती ही है, साथ ही साहित्यकार भी अपनी लेखनी से स्वर्णिम गरिमा प्रदान करते हैं। भारतीय किसान के जनजीवन को आधार बनाकर साहित्य में वृहद स्तर पर लिखा, पढ़ा और सराहा गया है। डॉ० हरिमोहन शर्मा लिखते हैं कि ''कथाकार जब छिन्न–भिन्न भाव बोध से ग्रस्त हो, साहित्य के प्रांगण में कदम रखता है तो आज के समय और समाज के यथार्थ को समझते और उससे जूझते हुए वैसे ही पात्रों की सृष्टि करता है जो आज के समाज का सच है।''[१] किसान की सच्चाई को कवियों ने कविताओं के माध्यम से तो कथाकार अथवा गद्यकारों ने अपनी गद्यात्मक कृतियों के माध्यम से प्रकट किया। हिन्दी कथा–साहित्य में अनेक कथाकार हैं, जिनकी प्रसिद्धि का आधार कृषक जीवन का वर्णन रहा है। गोदानकार मुंशी प्रेमचन्द को कथा–साहित्य में स्थापित होने के पीछे किसानों, ग्रामीणों और वंचितों को स्थान देने से ही हुआ है, जिन विषयों ने उन्हें कथा सम्राट् बनाया। हिन्दी कथा–साहित्य में और भी इसी प्रकार की कृतियाँ हैं–मैला आँचल, फांस, अकाल में उत्सव, धरती धन न अपना, सवा शेर गेहूँ, नशा, बलिदान और पूस की रात जैसी कहानियों तथा उपन्यासों में किसान संघर्ष को देखा जा सकता है।

कथाकार बलराम की पहला 'कहानी–संग्रह' कलम हुए हाथ का प्रकाशन सन् १९८० ई० में हुआ है। इसी कहानी–संग्रह के माध्यम से बलराम कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वे जितने कथाकार हैं उससे कीं अधिक सफल सम्पादक हैं। उनकी कहानियों में कृषक जीवन के प्रत्येक पहलुओं का वर्णन 'कलम हुए हाथ', 'शिक्षाकाल' तथा 'पालनहारे' में मुख्य रूप से प्राप्त होता है। उक्त कहानियों की कथावस्तु ठेठ ग्रामीण है तथा अविकसित गाँवों की वास्तविकताओं को दिखाया गया है। बलराम के कथाशिल्प को तराशते हुए श्रीराम तिवारी जी लिखते हैं कि ''बलराम का गाँव अपनी कलात्मक सहजता के साथ हिन्दी कथा का नया विस्तार है। हम प्रेमचन्द के गाँव से निकलकर रेणु के गाँव होते हुए आज बलराम के गाँव आ पहुँचे हैं। इनकी कहानियाँ उन्हीं अणुओं–परमाणुओं से निर्मित है, जिससे इनके जनपद के गाँव निर्मित हैं। बलराम जैसा मौलिक गाँव आज के किसी भी कथाकार के पास नहीं है।''[२]

किसान का जीवन संघर्षमय होता है। उसे अपनी किसानी के अतिरिक्त कुछ भी सोचने का अवकाश भी नहीं रहता है। मध्यमवर्गीय किसानों के जीवनमें समस्याओं की भरमार होती है। खेती की उपज से सालभर के भरण-पोषण की पूर्ति करना ही कठिन होता है। 'कलम हुए हाथ' कहानी की कथावस्तु बहुत मार्मिक है, जिसमें माधौ अपने तीन बेटों तथा पत्नी के साथ जीवनयापन करता है। वह शुरू में बहुत गरीब रहता है क्योंकि उसकी खेती लगान के बदले बलि बन गई है। माधौ की शादी के कुछ समय बाद ओले बरसने के कारण पूरी फसल चौपट हो गयी, जिस वर्ष का लगान नहीं दे पाता। तत्पश्चात् जमींदार ने अपनी क्रूरता किसान माधौ के कन्धों पर उतार दिया। मनुष्य जी जीवन में ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं जिनका निराकरण करना उसके हाथ में नहीं, बल्कि समय की लगाम में बसा होता है, कथा में मिलता है कि "ओले बरस गये तो रबी की फसल चौपट हो गई और फिर सूखे ने खरीफ की फसल को चौपट कर दिया, तो छोटे-मोटे किसानों की रही-सही कमर भी टूट गई। माधौ भी दाने-दाने का मोहताज हो गया। लगान न दे पाने की वजह से उनको खेती से बेदखल कर दिया गया। उन्होंने शिवराज सिंह से लाख मिन्नतें की, पर उनके कानों में जूँ तक नहीं रेंगी।"[३] अपनी परिस्थितियों से लड़ते हुए माधौ मजदूर हो गया और कुछ दिनों के बाद पास ही बसे गाँव शिवपुर के चंपत ठाकुर के यहाँ किसानी करने लगा था। एक बार चंपत ठाकुर का बटुआ खो गया जो माधौ को मिल गया, उसने उस बहुमूल्य बटुए को ईमानदारीपूर्वक चंपत ठाकुर को वापस कर दिया। माधौ के इस कृत्य से चंपत ठाकुर इतना प्रभावित हुए कि उसे ईनाम देना चाहा। उसने कुछ और न माँग कर अपनी खोयी जमीन को शिवराज सिंह से वापस दिलवा देने का अनुरोध किया। इस तरह से वह पुनः मजदूर से किसान के रूप में जीवन्त हो गया। इस घटना से ईमानदारी का परिचय मिलता है। उस जमाने में सभी जमींदार शिवराज सिंह जैसे क्रूर नहीं होते थे, अपितु चंपत ठाकुर जैसे सहृदय जमींदारों का भी साक्ष्य मिलता है।

मध्यमवर्गीय व्यक्ति शिक्षा के प्रति सजग होता है, वह चाहता है कि मेरे बच्चे भी पढ़-लिखकर इन खस्ताहाली से बहाली का रास्ता खोल सकें, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियाँ इतनी जटिल होती हैं कि उसे काटने में ही जीवन अस्त-व्यस्त होता है। माधौ ने भी अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा आगे बढ़ाना चाहता है ताकि उसके बच्चों को सुखमय जीवन प्राप्त हो सके। कहानी में मिलता है कि "माधौ बापू ने बड़के और मझले काो पढ़ाने की बहुत कोशिश की, पर वे पढ़ नहीं सके। हार कर बापू ने पहले तो बड़के को खेती में जुटाया और फिर मझले को भी। बापू के साथ दोनों बेटों का भी खून-पसीना पाकर खेती तो मानो सोना ही उगलने लगी।"[४] मध्यमवर्गीय परिवारों का रहन-सहन सामान्य ढंग का होता है, जो न तो ठीक ढंग से खा सकता है न ही आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। जब बेटे बड़े हो जाते हैं तो उनके भविष्य और रोजगार की चिन्ता घर के मुखिया को धीरे-धीरे तोड़ती जाती है। समाज और बिरादरी के भय से असमय विवाह करना अनिवार्य-सा संस्कार है। माधौ अपने दोनों बेटों का विवाह कर देता है जबकि छोटा बेटा शंकर अविवाहित रहता है, जो पढ़-लिख कर अच्छे पद पर पहुँचना चाहता है। भारतीय समाज की यह एक बड़ी बुराई है कि अधिकांश माता-पिता अकेले जीवनयापन करते हैं।

क्योंकि बेटे का विवाह होते ही परिवार कई टुकड़ों में बँट जाता है। घर में दीवारें तथा खेतों में मेड़े तैयार हो जाती हैं। ऐसी हालत में किसी भी सन्तान को अपने माता-पिता के सुख-दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे "जब कभी बड़के-मझले में झाँय-झाँय हुई तो अम्मा को ताना-सा दिया कि तुम्ही जिन्दगी भर रोती रही कि खेत चले गये, खेत चले गये, जब खेत वापस मिल गये तो रेढ़ना शुरू किया कि घर अच्छा नहीं है, घर बनवाओ, खेतों और घर के चक्कर में जिन्दगी भर न ढंग से खा सके, न पहन सके।"[५]

इस प्रकार वे अकेले ही घर, खेत-खलिहान मात्र जीविका के लिए सब चलाते रहते हैं। पारिवारिक बँटवारे के विषाक्त को 'कलम हुए हाथ' में बखूबी दिखाया गया है। जब बड़ा तथा मझला बेटा विवाहोपरान्त अपना बँटवारा ले लेते हैं, तब माधौ सबसे छोटे बेटे शंकर के साथ जीवनयापन करने लगता है। जिसे अब कोई नहीं पूछता है। माधौ अपनी पत्नी से कहता है कि "सोचा था, बुढ़ापे में लड़के बच्चे रोटी तो ढंग से देंगे ही, पर रोटी तो दूर यहाँ बात सुनने तक की किसी को फुर्सत नहीं है। कोई साला पानी तक को तो पूछता नहीं है। यह सब तुम्हारे ही कारण हुआ है। मेरी चलती हो खेत-घर कुछ न करता। रुपया बैंक में जमा कर देता पास में रुपया होता तो आज सब साले आगे-पीछे घूमते-फिरते।"[६] माधौ का बाँया हाथ अब तनिक भी काम नहीं करता है। इस समस्या ने माधौ को और भी असहाय कर दिया है। किसी भी काम के लिए एक सहारे की आवश्यकता पड़ती है। जैसे कुर्ता पहनने से लेकर जमीन पर खड़े होने तक आदि में। उसके आय का साधन किसानी तथा पशुपालन ही है। जिससे किसी प्रकार दीन-हीन तरीके से भरण-पोषण होता है। शंकर सोचता है कि "पहले तो सबका एक ही आकाश था और अब सबका अपना-अपना अलग-अलग आकाश हो गया है। उस आकाश के अलग-अलग रंग हैं। पहले घर सतरंगी इन्द्रधनुष हुआ करता था और अब टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया है और बिखरे हुए रंगों से कहीं कोई इन्द्रधनु बनता है।"[७] 'कलम हुए हाथ' तथा 'शिक्षाकाल' के बालपात्रों के समान ही 'पालनहारे' में हेमू पढ़-लिखकर अच्छा आदमी बनना चाहता है, परन्तु उसकी यह सोच परिस्थितियाँ पलने-बढ़ने नहीं देती हैं। माधौ की भाँति हेमू के पिता भी उसकी पढ़ाई को लेकर चिन्तित रहते हैं। कहानी में मिलता है कि "देश के आजाद होने के बाद शिक्षा का महत्त्व उनको ही नहीं, हर आदमी की समझ में आ गया है। बिना पढ़े नर पशु कहावै। नौकरी न भी मिले तो भी बप्पा चाहते हैं कि उनके बाल-बच्चे उनकी तरह गंवार न रहें। आजादी ने कुछ और दिया हो, न दिया हो, पर देश के हर बच्चे के लिए पढ़ाई के दरवाजे तो खोल ही दिये हैं।"[८] माता-पिता घर के सभी काम करते लेते ताकि बच्चों के पढ़ाई में कोई भी बाधा न आये 'पालनहारे' कहानी में हेमू के पिता ने एक दिन घोषणा किया कि "हेमू कुछ नहीं करेगा, हेमू सिर्फ पढ़ेगा, पढ़ाई और पढ़ाई।"[९] शिक्षा के प्रति इस जन-साधारण में आजादी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, क्योंकि अशिक्षित, वंचित किसान तथा मध्यमवर्गीय लोगों ने पढ़े-लिखे स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों को देखा था। विभिन्न संस्था और संगठनों द्वारा शिक्षा के प्रति शहर से लेकर गाँव तक लोगों को जागरूक किया गया।

जमींदारों का अत्याचार कथा-साहित्य, फिल्मों तथा कई साहित्यिक पुस्तकों में प्राप्त होता है। जमींदारी व्यवस्था की दंश मध्यमवर्गीय किसान के लिए घातक सिद्ध हुई है। उस जामने के लोग ऐसी अनेक बातें बताते हैं जिन्हें सुनकर हृदय द्रवित हो उठता है और सोचने के लिए विवश हो जाते हैं कि आखिरकार जमींदारों में मानवता नहीं होती है क्या? यदि होती है तो इतनी क्रूरता क्यों? 'कलम हुए हाथ' तथा 'पालनहारे' दोनों कथाओं में इस विषय को विस्तृत ढंग से दिखाया गया है कि जमींदारों का अत्याचार कैसा होता है? किसान व जनमानस उनकी ज्यादती-जबरदस्ती से त्रस्त थे। जो उनकी बातों को अनसुना कर देता था उसे दण्डित किया जाता था। जो किसान लगान न दे पाता उसकी जमीन हड़प ली जाती थी। जिस कुनीति ने अनगिनत किसानों को मजदूर तथा जमींदरों का कर्जदार बना दिया। खेती की उपज भी सामान्य ढंग की होती और बचा हुआ कसर प्राकृतिक आपदा पूरा कर देती थी। 'कलम हुए हाथ' के साथ ही 'पालनहारे' कहानी में भी इस विषय को दिखाया गया है। जिसमें हेमू के पिता को ओलों के बरसने का दुख झेलना पड़ा था। कहानी में प्राप्त होता है कि "एक दिन रेडियों ने बताया कि मुख्यमन्त्री ने घोषणा की है कि जिन इलाकों में ओलों से फसलें बर्बाद हुई हैं। वहाँ के किसानों से सिंचाई-लगान की वसूली में जोर-जबरदस्ती नहीं की जाएगी। अन्य किसानों के साथ हेमू के बप्पा ने ही राहत की सांस ली, और जनता सरकार की किसानपरस्ती की प्रशंसा के पुल बाँधने लगे, लेकिन मुख्यमन्त्री की घोषणा के कुछ ही दिनों बाद किसानों के पास सिंचाई और लगान वसूल करने वाले अमीनों के हरकारे पहुँच गये।"[१०]

'कलम हुए हाथ' कहानी में माधौ जमींदारी व्यवस्था के कारण ही टूट जाता है व उसके बीमार होने पर इलाज के लिए पैसा ठाकुर से ही लिया जाता है। खेती-बाड़ी का सारा काम उधार-व्यौहार उसी से चलता है। बेटों से वह खेतों की जुताई-बुआई के लिए नहीं कह सकता है, क्योंकि वे अलग रहते हैं। पास में इतने रुपये भी नहीं हैं कि वह मजदूर लगा कर खेती करवा सके। आखिरकार अन्त में एकमात्र विकल्प ठाकुर से ब्याजदर पर धन लेना ही बचता है। ठाकुर के लिए ये सब सामान्य-सी बातें हैं, क्योंकि उसके लिए माधौ रूपी अनेक किसान हैं। वह तो उनमें से एक है। बेटों के अलग हो जाने के बाद से माधौ बेसहारा-सा हो गया है। वह पहले से ही बाँये हाथ से अपंग है, परन्तु ठाकुर के कर्ज के बोझ ने अब पूरी तरह से अपंग बना दिया है।

माधौ का मझला लड़का ठाकुर का अच्छा मित्र बन गया, जबकि दोनों की उम्र में चौदह-पन्द्रह साल का अन्तर है। वास्तविकता में संगत मित्रता को प्रगाढ़ता देती है। ठाकुर के साथ उठने-बैठने के कारण उसको शराब की लत लग गई। फिर क्या था! जो शराब की असलियत है। बहुत अच्छे से चल रहा घर बर्बाद हो गया। सभी के चिन्ता का केन्द्र मझले की संगत बन गई। मझले बेटे के शराबी होने के कारण घर में दो चीजें एक साथ प्रवेश करती हैं शराब और ठाकुर को द्वारा घर में दखलंददाजी। आये दिन घर में लड़ाई-झगड़ा का कारण मझले की शराब ही रहती। मझले की मति शराब ने मार दिया और अब वह अपने घर वालों को ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानने लगा है। ठाकुर ने अपनी चाल चली और

एक नया पैंतरा चल दिया। मझले को बँटवारे के लिए तैयार कर उसके घर-खेत को बाँट दिया था। जिस पर बड़े भाई ने बापू को समझाया कि बँटवारा मत कीजिए जैसा कि कहानी में उद्धरण मिलता है कि "उन्होंने बापू को समझाया कि आप बँटवारा मत कीजिए मझले को घर से निकाल दीजिए।[१०] घर से निकलते ही उसका नशा हिरन हो जायेगा, लेकिन बापू तो बापू थे, बेटे को घर से कैसे निकालते? एकबारगी बापू ऐसा सोचते भी, पर मझले के दोस्त थे राजा ठाकुर। कहने को तो ठाकुर की जमींदारी चली गई है, पर उनका रुतबा और दबदबा पहले जैसा ही है। गाँव के गरीब संतू से लेकर शिवपुर के थानेदार तक उनकी ही हाँ में हाँ में मिलाते हैं।"[११]

ठाकुर की दिमागी चाल ने माधौ के घर को टुकड़ों में बाँट दिया और दिन बीतने लगे। उतने पर भी ठाकुर को सन्तोष न था वह माधौ के साथ पैंतरे पर पैंतरे चलता रहा, जिससे माधौ की अपंगता पूरी तरह से निष्क्रियता में बदल जाये। जमींदार के द्वारा क्रूरता की जाती रही तथा गरीब माधौ बहुत चाहकर भी कुछ नहीं कर सकता था माधौ के विषय पर मूलचन्द्र गौतम लिखते हैं कि "कलम हुए हाथ गरीबों की जमीनें हड़प जाने वाले राजा ठाकुर के शिकार माधौ बाबू के विभाजित परिवार की त्रासदी की कथा है। खुशहाली से फटेहाली तक आता यह परिवार औसत भारतीय किसान परिवार की नियति है जिसमें सरकारी कर्जे का बोझ और लटक गया है।"[१२] गोदान में होरी को अपने समय से लड़ना पड़ा था। दिन-ब-दिन होरी क्षयरोग से पीड़ित जैसे टूटता गया और अन्त में मृत्यु के मुँह में समा गया। माधौ की गति भी कुछ ऐसी है। उसका भी बेटा साथ नहीं दे रहा था। माधौ अपने रोग से कम बल्कि ठाकुर के दखंलदाजी से अधिक टूट गया था, उसका परिवार ठीक-ठाक चल रहा था जो ठाकुर से देखा नहीं गया। उसके मझले बेटे को साथ लेकर मनचाहे कार्य किया।

एक दिन उसने माधौ के सामने ये शर्त रखा। शंकर के बार-बार पूछने पर बापू शर्त बताते हैं कि "सवेरे ठाकुर ने हिसाब लगाकर बताया था कि हम पर उनका कर्जा कितना हो गया। सो, कागजातों पर दस्तखत करवाने के बाद बोले कि चाहे हमारे रुपये वापस कर दो, चाहे एक बीघे का बैनामा कर दो, या फिर तीनों बीघे खेत छः साल तक जोतने-बोने को दे दो।"[१३] उपर्युक्त शर्त ने माधौ को जिन्दा मार दिया अब उसे सोचने समझने के लिए कुछ भी नहीं बचा था। और बचा भी था तो ठाकुर के द्वारा दिये गये तीनों विकल्प। ये विचार जमीन को देखखर पले-बढ़े दिखाई पड़ते हैं। ठाकुर ने दस्तखत भी ले लिया है ताकि कोई और विकल्प भूल से भी न पनप सके। इस प्रकार से कहानी में समकालीन अत्याचार को दिखाया गया है।

संघर्ष के समय आदमी को किसी सहारे की आवश्यकता होती है। उसके लिए हर सामने खड़ा व्यक्ति अथवा वस्तु से आस होती है कि शायद मेरा काम इसी के माध्यम से सिद्ध हो जाये। परन्तु सच्चाई कुछ और ही होती है। किसान या मजदूर के जीवन में मुख्य रूप से मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ता है। जिसकी पूर्ति के लिए लम्बरदार, सेठ-साहूकार और जमींदार की ओर देखना पड़ता है। और वे सभी उसकी हैसियत देखकर व्यवहार करते हैं। कर्ज देते समय बहुत ही

विनम्रता का परिचय देते हैं, परन्तु कुछ ही दिनों बाद उनकी विनम्रता क्रूरता में परिवर्तित हो जाती है। 'पालनहारे' कहानी में लगान-सिंचाई न दे पाने की स्थिति में हेमू का परिवार बहुत अधिक चिन्तित रहता है। कोई भी विकल्प नहीं दिखाई पड़ता है। मुन्नी (हेमू की बहन) के बड़ी अम्मा से पूछने पर वह सोचती है कि "अंग्रेजी राज और गाँधी के इस रामराज में क्या फर्क है। बहुत सोचने पर भी कोई खास फर्क उन्हें नजर नहीं आया। गाँव वालों की जिन्दगी में तो आज भी वही बदहाली और पुलिस-अमीन का आतंक व्याप्त है।"[१४] ग्रामीण समाज का व्यक्ति उसी मानसिकता में पिरो-सा गया है, पुलिस के नाम पर लोग घर के अन्दर घुस जाते थे और अमीन के आने से पहले ही कर्ज लेकर लगान का प्रबन्ध कर लेते थे। वैसे आज के परिवेश में बहुत परिवर्तन हुआ है। ग्रामीणांचल में शिक्षा का प्रचार-प्रसार पर्याप्त मात्रा में हो रहा है, जिससे लोगों में पुलिस का भय कम हुआ है।

बलराम की कहानियों में पात्रों की समस्या और संघर्ष के बीच जीवनयापन करना होता है। उनका व्यक्तिगत जीवन भी स्वतन्त्र नहीं रहता है। ऐसे लोग गाँव या शहर प्रत्येक जगह मिलते हैं। 'कथा कहे बलराम' नामक पुस्तक की भूमिका में डॉ० शिवनारायण लिखते हैं कि 'कलम हुए हाथ लिखकर बलराम ने भविष्य के ग्राम भारत का संकेत ही नहीं, सत्ता को सावधान करने का भी काम कर दिया था। इन जैसी अनगिन दुश्चिंताओं के चलते 'कलम हुए हाथ' ही नहीं, बलराम की 'शिक्षाकाल', 'सामना' और 'पालनहारे' जैसी कहानियों का प्रभाव मेरे मन-मस्तिष्क पर हमेशा ताजी रही।"[१५] मध्यमवर्गीय जीवन में सामाजिक दोष अधिक होते हैं। जिन सामाजिक सरोकारों के लिए कोई समर्पित रहता है उसे ही कुछ समय बाद खण्डित पाया जाता है। कहानी में ऐसे विषय शामिल हैं जिनकी आभा अलग-सी दिखाई पड़ती है। प्रत्येक पात्र की एक मूर्त छवि होती है जो सीख प्रदान करती है। बलराम की कहानियों में पीड़ा और संत्रास सतह पर होती है जिसका दर्द महसूस किया जा सकता है। वर्ग, सम्प्रदाय ही नहीं जिस व्यक्ति ने परिस्थितियों का सामना किया वह स्वयं को कहानी के पात्र के रूप में देखता है। जो बलराम की कहानियों की मुख्य विशेषता है। आज भी गरीबी का जीवन जीने वाले किसान जीवन में माधौ का रूप देखा जा सकता है। चारों ओर से समस्याएँ मुँह फैलाए खड़ी रहती हैं। सरकारी योजनाएँ कागजी प्रक्रिया पूर्ण करती रहती हैं तथा किसानों की पहुँच से मीलों दूर होती हैं। मध्यमवर्ग परिवार का जीवन स्तर निम्नतर होता चला जाता है जो 'कलम हुए हाथ' संग्रह की कहानियों में देखा जा सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. बलराम की संकलित कहानियाँ, बलराम, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दूसरा संस्करण २०१३, पृ० १०८
२. शीतलवाणी, त्रैमासिक पत्रिका, संयुक्तांक जनवरी-जून २००२, डॉ० वीरेन्द्र 'आजम', पृ० १११
३. कलम हुए हाथ–बलराम, संस्करण २०१२, भावना प्रकाशन, दिल्ली, पृ० ५५
४. वही, पृ० ५५
५. वही, पृ० ५१
६. वही, पृ० ५१

७. वही, पृ० ६१
८. वही, पृ० ९२
९. वही, पृ० ९३
१०. वही, पृ० ९४
११. वही, पृ० ५७
१२. बलराम : एक शिनाख्त, जितेन्द्र पात्रो, संस्करण २०२१, प्रलेख प्रकाशन प्रा० लि०, पृ० ११४
१३. वही, पृ० ६१
१४. वही, पृ० ९४
१५. बलराम, डॉ० शिवनारायण, प्रथम संस्करण २०१४, भावना प्रकाशन, दिल्ली, पृ० ८

–असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी-विभाग)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हमीरपुर (उ०प्र०)-२१०३०१
मो०: ९४५०१३८३९९

विद्यापति पदावली के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ

–मनीष यादव

साहित्य सदैव गत्यात्मक प्रक्रिया में चलता रहता है। जैसे-जैसे समय में परिवर्तन होता है, साहित्य के दृष्टिकोण और रूप में भी बदलाव अवश्यंभावी होता है। विश्व भर में जिन समाजों की अपनी प्राचीन विरासतें हैं, वे इनसे ही अपने लिए नई प्रेरणा और उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने के माध्यमों को विकसित करते हैं। भारत इस नजरिए से और समाजों से कहीं ज्यादा सम्पन्न दिखाई पड़ता है, जिनके पास लगभग ५००० वर्षों की विस्तृत और दीर्घकालिक विरासत प्रत्यक्ष है। इस लम्बी अवधि के दौरान भारत में कई सामाजिक और सांस्कृतिक प्रबोधन दिखाई पड़ते हैं, जिसमें वैदिक संस्कृति, उपनिषद् संस्कृति, बौद्ध एवं जैन संस्कृतियाँ, १४वीं, १५वीं शताब्दी का भक्ति आन्दोलन आदि हमारे इतिहास में सांस्कृतिक उत्थान के द्योतक हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए लोकजागरण काल के कवियों का पुनर्मूल्यांकन जरूरी हो जाता है। बिहार प्रांत का मिथिला क्षेत्र अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक अक्षुणता के लिए विशेष ख्याति रखता है। मिथिला में सांस्कृतिक जागरण करने का पूरा श्रेय मिथिला कवि विद्यापति ने मिथिला संस्कृति में शुरू किया, वह अनवरत रूप से आज तक सांस्कृतिक निर्माण कार्य में लगा हुआ है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल के महान रचनाकार विद्यापति के वर्तमान को लेकर विद्वानों में काफी विवाद है। फिर भी साधारणतः विद्वानों ने उनको १३६० ई० से १४९० ई० के मध्य वर्तमान माना है। 'पदावली' विद्यापति की रचनात्मकता की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि है। जिस विशेषता के कारण विद्यापति पदावली ख्यातिलब्ध है, वह है देवभाषा के बजाय लोकभाषा में इसकी रचना होना। पदावली के उपजीव्य के रूप में जन-संस्कृति और लोकाचार की प्रेरणा है।

विद्यापति पदावली के पद सिर्फ मिथिला क्षेत्र में ही नहीं, अपितु बंगाल, उड़ीसा, असम, उत्तर प्रदेश और नेपाल के क्षेत्र तक लोगों के कण्ठ में बसे हुए हैं। विद्यापति को लोकज्ञान का अनुभव केवल एक कवि के रूप में ही नहीं, बल्कि इन्होंने मिथिला राज्य के शासन में विभिन्न लोक कल्याणकारी कार्यों की योजना बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसी कारण विद्यापति का लोक अनुभव अत्यन्त विकसित और विश्वसनीय होता चला गया। जिसका प्रमाण हमें पदावली में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यदि विद्यापति पदावली पर गौर किया जाए तो हम पाते हैं कि पदावली के पदों से वर्णित विषय, पात्र एवं उनकी भाषा तथा भाव आदि सभी बिल्कुल सामान्य से जान पड़ते हैं।

विद्यापति ने सामान्य लोक के अन्तःकरण को बहुत ही सजगता और गम्भीरता से महसूस करके अपने पदों का विषय बनाया। लोक के मनोविज्ञान को परखने वाला विद्यापति सदृश्य कवि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में बिरला ही है। विद्यापति ने लोक–भाषा और लोक–संस्कृति को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। लोक–भाषा और लोक–संस्कृति की महत्ता को स्पष्ट करते हुए डॉ० मैनेजर पाण्डे लिखते हैं, "हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह है कि उसका आरम्भ लोक–भाषा में लोक–संस्कृति और जन–भावनाओं की अभिव्यक्ति से होता है।"[१] यह कथन विद्यापति के सन्दर्भ में बिल्कुल सटीक बैठता है। वे तत्कालीन सांस्कृतिक कड़वाहट के भय से बिल्कुल मुक्त रहते हुए तत्कालीन सत्ताधीशों की आलोचना करने में पीछे नहीं रहे–

बालचंद विज्जवड़ भासा
दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा
औ परमेसर हर सिर सोहड़
ई णिच्चइ नायर मन मोहड़।

विद्यापति के सन्दर्भ में विद्वानों में गहरे मतभेद हैं। चाहे उनके जन्म को लेकर हो, उनको आध्यात्मिक या श्रृंगारिक मानने को लेकर हो आदि। इन विषयों में जो भी सत्यता हो, परन्तु एक बात तो निर्विवाद है कि विद्यापति का सर्जन अद्‌भुत है। उनकी सर्जना शक्ति ने न सिर्फ मिथिला की संस्कृति को निर्मित किया, बल्कि उसको पोषित करके एक आयाम भी प्रदान किया। इन्होंने न सिर्फ मैथिली संस्कृति में प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया, अपितु विभिन्न संस्कृतियों को मिलाने का कार्य भी करते रहे। भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में विद्यापति अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने मैथिली बोली के साथ–साथ संस्कृत और अवहट्‌ट में भी अद्वितीय रचनाओं की सृष्टि की। विद्यापति पूरे उत्तर भारत और पूर्वी क्षेत्र में भाषा की दृष्टि से एक सेतु के रूप में कार्य करते रहे। भले ही कोई विद्यापति का आंकलन करते समय उनसे सहमति या असहमति व्यक्त कर सकता है, परन्तु यदि बात भाषा की हो तो, हिन्दी भाषा के प्रारम्भिक दौर का विकास विद्यापति के बिना अपूर्ण दिखाई जान पड़ेगा या यूँ कहें कि इन्हीं के यहाँ से गुजरकर ही भाषाओं की विकास यात्रा को समझा जा सकता है। इन्होंने जनभाषा, लोकभाषा की सांस्कृतिक गरिमा को स्थायित्व प्रदान किया जो परम्परा के रूप में चल पड़ा। डॉ० मैनेजर पाण्डेय के अनुसर "हिन्दी साहित्य का इतिहास देसी भाषा के साहित्य का इतिहास है।"[३] इस मत की पुष्टि विद्यापति के पदों में स्पष्टता से देखी जा सकती है।

विद्यापति भारतीय लोक–परम्परा के सबसे प्रमुख और विश्वसनीय स्वर हैं। वे रचनाओं के द्वारा भक्ति, श्रृंगर, नीति, राजधर्म, शिक्षा, समाज और सांस्कृतिक चेतना को निर्मित करते रहे। इनके पदों में लोक और शास्त्र का समन्वय भी परस्पर रूप में देखने को मिलता है। एक ओर जहाँ पदावली के गीत लोक–संस्कारों के रूप में आँगन से रसोई, पूजाघर और महफिलों तक प्रचलित है। वहीं दूसरी ओर शास्त्रीय गायकों के मधुर कण्ठों से भी इनका आस्वादन लिया जा सकता है। विद्यापति के पद सोहर,

मलार, वटगमनी, तिरहुत, समदाउनि, योग, उचित, नचारी, महेशबानी, आदि नामों से लोकगीत संस्कृति के अभिन्न अंग बनकर समाज में प्रचलित हैं।

विद्यापति ने अपनी कोमलकान्त पदावली के माध्यम से कृष्ण लीला को बिहार में प्रचलित किया। विद्यापति अपने कथा विस्तार क्रम को पूर्वराग, दौत्य, अभिसार, सम्भोग, मिलन तथा विरह के रूप में प्रस्तुत करते हैं। विद्यापति के वर्तमान में इस्लाम का प्रभाव काफी बढ़ चुका था और सूफी दर्शन का प्रचार तीव्र गति से चल रहा था। उस दौर में विद्यापति ने 'हे सखी मानुस जनम अनूप' जैसे उक्तियों का उद्‌घाटन करके मानव के आत्मबल को बढ़ाया। विद्यापति ने माधुर्य और भक्ति को एक करके प्रेमदर्शन का प्रतिपादन किया।

किये मानुस पसु पाखिए जनमिये, अथवा कीट पतंग।
करम विपाक गतागत पुनपुन, मति रहु तुया परसंग।।
भनई विद्यापति अतिसय कातर, तरइने इह भव सिंधु।
तुअ पद पल्लव करि अवलंबन तिल एक देहतु दिन बंधु।।[४]

विद्यापति की प्रसिद्धि में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान पदावली का है। मैथिली बोली में रचित पदावली राधा–कृष्ण के लोक क्रिया–कलापों के गेय पदों का संग्रह है। पदावली के पदों की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर इसका संकलन हिन्दी के अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने किया, जिनमें जार्ज ग्रियर्सन, नागेन्द्र नाथ गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिव प्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं। पदावली विद्यापति की लोक अनुभव का निचोड़ जान पड़ती है जिसे इन्होंने राधा–कृष्णके द्वारा व्यक्त किया है। विद्यापति की लोक अनुभव का निचोड़ जान पड़ती है जिसे इन्होंने राधा–कृष्ण के द्वारा व्यक्त किया है। विद्यापति ने राधा और कृष्णके प्रेम में अनावश्यक आरोपण द्वारा उसे अलौकिक न बनाकर, लौकिक श्रीगारिक विशेषताओं से युक्त, प्रतीक स्वरूप प्रदान किया है। विद्यापति के राधा–कृष्ण सम्बन्धी प्रेम को लेकर डॉ० रामकिशोर शर्मा का विचार है कि–"उन्होंने प्रणय के सूक्ष्म संवेदना को कुंठित भाव से चित्रित किया। जिसमें लौकिककता और अलौकिकता के बीच की विभाजन रेखा मिट–सी गई है।"[५]

यद्यपि विद्यापति एक दरबारी कवि थे, अपितु उनके पद लोक अनुभवों से सम्पृक्त हैं। उनके पदों में ग्रामीण नारियों के गीतों में लोक यथार्थ के मर्म का भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, जिसमें किसी के मन को झुमा देने वाली धुन भी है और आसानी से ग्रहण होने की सहजता भी। इनमें अकृत्रिम तरीके से मनोभावों को प्रकट किया गया है। इनके खेत खलिहान, ग्राम्य–प्रकृति तथा लोक–परिवेश हर किसी को भाव–विभोर कर देता है। पशु–पक्षियों से जुड़े हुए शकुन–अपशकुन, त्योहार तथा लोक–आस्था इनके पदों के प्रमुख पुट हैं।

मोरे रे अँगनवाँ चनन केरि गछिया,
ताहि चढ़ कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देव तोय वायस।
जयों पिया आवत आज रे।।[६]

कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से अलग होकर रचना कार्य नहीं कर सकता। परिवेश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रचनाकार को प्रभावित करता ही है। यह सच है कि कोई कलाकार सिर्फ किसी विशेष वातावरण को ही निर्मित नहीं करता, बल्कि सांस्कृतिक वं सामाजिक परिवर्तन तथा विकास की दशा–दिशा भी तय करता है। किन्तु कलाकार को यह सर्जना शक्ति भी उसी सामाजिक वातावरण से प्राप्त होती है। कोई भी रचनाकार या कलाकार अपने देश काल के वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मैथिल कोकिल विद्यापति के विषय में भी यह बातें उतनी ही सचहैं। मिथिला समाज सामंतवादी आधार पर टिका हुआ था और मध्यकालीन सामन्तवादी समाज के सभी दोष उनके समाज में विद्यमान थे समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय थी। सती प्रथा का प्रचलन था, बहुविवाह प्रथा परम्परा यथावत् चली आ रही थी, समाज में लड़कियों का विवाह बहुत ही कम उम्र में कर दिया जाता था तथा बेमेल विवाह का भी उल्लेख पदावली में द्रष्टव्य है–

पिया मोर बालक हम तरुनी।
कोन तप चूकि भेलहुँ जननी।।
सखी हे बालम जितब बिदेसे।
हम कुलकामिनी कहइते अनुचित, तोहऊँ दे हुनि उपदेसे।[७]

हालाँकि कुछ विद्वान् विद्यापति को 'भोगीलाल' के दरबारी कवि का तकमा देकर उनकी आलोचना भी करते हैं और आरोप लगाते हैं कि उनके पदों में न तो साधारण लोगों समस्याएँ हैं न ही उनके विचार और संस्कार। उनके पद अमर्यादित शृंगार वर्णन के कारण सामाजिक सरोकरों से नहीं जुड़ पाते। विद्यापति की कविता को उन्मादक और उत्तेजक कविता के रूप में बताया गया है। निराला ने 'विद्यापति और चण्डीदास' शीर्षक लेख में दोनों की सरसता, भावुकता और सौन्दर्यप्रियताकी तुलना के क्रममें लिखा है, "भावुकता की मादक शक्ति विद्यापति में भी और बड़ी ही तीव्र, जैसे नागिन काजहर, क्षणमात्र में शरीर को जर्जर कर देने वाला।"[८] डॉ० बच्चन सिंह लिखते हैं, "इसमें सन्देह नहीं कि पदावली विलासको प्रज्वलित करने वाली रचना है।"[९]

ऊपर उल्लेखित मतों के इतर विद्यापति अपनी पदावली में राजनीति, समाज और संस्कृति के प्रति जितने सजग और जागरूक हैं उतना कोई बिरला ही होगा। उनकी चेतनशीलता उन्हें आदिकाल और मध्यकाल के रचनाकारों में विशेष स्थान पर रखती है। विद्वानों ने तुलसीदास की रचनाओं में कृषि संस्कृति के करण ही उनको बड़ा कवि माना है, जबकि यह कृषि संस्कृति उनसेपहले विद्यापति के यहाँ मिलती है। विद्यापति पदावली में किसानों की चिन्ता, कृषिकर्म, सूखा और बाढ़ की समस्या बार–बार आती है। इस सन्दर्भ में पदावली का यह पद द्रष्टव्य है–

बेरि–बेरि अरे सिब हमें तोहि कहल कहा लौहूं,
किरिषी करिअ मन लाए।
खरंग काटि हर–हर जे बनाविअ, तिरसुल तोड़ी करू फार।
बसहा धुरन्धर हर ले जोतिअ, पाटिल सुरसरि धार।।[१०]

हर प्रकार से विचार और विवेचन करने के पश्चात् स्थगित कर सकते हैं कि मिथिला क्षेत्र में सांस्कृतिक जागरण करने का पूरा श्रेय विद्यापति को ही जाता है। सांस्कृतिक निर्माण का आधार और विकास विद्यापति के बिना अधूरा दिखाई पड़ता है। इसलिए यह गर्व का विषय है कि विद्यापति जैसा युगपुरुष हमारी विरासत और परम्परा में आया और सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों को दिशा निर्देशित करके सभ्यता को परिष्कृत किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. साहित्य और इतिहास दृष्टि–मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, पृ० ११४
२. कीर्तिलता और विद्यापति का युग–डॉ० अवधेश प्रधान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ० ४४
३. साहित्य और इतिहास दृष्टि–मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, पृ० ९८
४. विद्यापति–मित्र मजूमदार, पद संख्या ७७१
५. विद्यापति पदावली–डॉ० रामकिशोर शर्मा, श्यामा प्रकाशन संस्थान, पृ० ९
६. वही, पृ० ३७
७. विद्यापति की पदावली–सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, पृ० २३४
८. विद्यापति और चण्डीदास–लेख सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', निराला रचनावली-५, पृ० २४८
९. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास–डॉ० बच्चन सिंह, राधाकृष्णन प्रकाशन, पृ० ६५
१०. विद्यापति की पदावली–सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, पृ० २३४

–शोधार्थी (हिन्दी एवं आधुनिक)
भारतीय भाषा -विभाग
इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय
प्रयागराज
मो० : ७२६६०४८३७७

सूरदास के कृष्ण (विशेष सन्दर्भ : खंजन नयन)

–विकास तिवारी

भक्तिकाल का साहित्य मध्यकाल के सामाजिक सरोकारों को प्रतिबिम्बित करता है। भक्तिकाल में सूरदास का साहित्य सल्तनत और मुगलकालीन समाज को प्रदर्शित करता है। सूरदास के समय काभारत विदेशी पराधीनता से ग्रस्त था, जिसका प्रभाव सूरदास के जीवन व्यक्तित्व पर दिखाई पड़ता है। सूरदास के सम्पूर्ण कृष्ण भक्ति साहित्य उनके सशक्त व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। सूरदास के जीवन को आधार बनाकर अमृतलाल नागर जी ने 'खंजन नयन' उपन्यास की सर्जना की। यह शीर्षक यह बताता है कि जिस प्रकार खंजन पक्षी अपने नेत्रों की चंचलता से लोगों को आकर्षित करता है उसी प्रकार सूरदास की आँखें भी अपने कृष्ण दृष्टि धारण करने के कारण आकर्षण का केन्द्र हैं। उनके चंचल नेत्रों में राधाकृष्ण का स्वरूप बिम्बित होता है।

'खंजन नयन' उपन्यास के सन्दर्भ में स्वयं अमृतलाल नागर जी ने कहा है कि 'यह उपन्यास सूरदास के व्यक्तित्व को तीन स्तरों पर प्रस्तुत करता है–तल-अतल और सुतल।' सूरदास ने अपने प्रत्येक तल पर राधाकृष्ण की प्रतिमा को स्थापित कर लिया है, यही उनके व्यक्तित्व को विशेष बनाता है।

सूरदास जी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व राधाकृष्ण के संस्कारों से आच्छादित है। यह संसार उनके जीवन के ध्येय को प्रदर्शित करता है। भक्तिकाल का समय भारतीय जनमानस की परीक्षा का समय है। ऐसा माना जाता है कठिन समय में व्यक्ति की परीक्षा होती है। इस्लाम के कट्टरवाद ने मध्यकाल में जो कहर बरपाया था उसका प्रभाव सूर के सम्पूर्ण जीवन पर पड़ा है। इन्हीं कठिन परिस्थितियों में भारतीय समाज में एक जागरण दिखाई देता है जिसे रामविलासजी एक जनवादी आन्दोलन के रूप में देखते हैं। भारतीय जनमानस की शिथिलता को भक्तिकाल के कवियों ने दूर किया। जितने भी आक्रमणकारी भारत में आये उन्होंने हमारी सहनशीलता और सहृदयता का दुरुपयोग किया। यदि भक्तिकाल का उदय न होता तो यह महान भक्त कवि हमारे बीच न आते। शायद आज भी हमारा समाज इस पीड़ा को सहता रहता। कबीर, सूर, तुलसी ने जो अलख जगाई, उसका अनुपालन अन्य भक्त कवियों ने भी किया, जिसकी चर्चा मध्यकाल में और आधुनिक काल में आलोचकों, समीक्षकों द्वारा की गई।

इन्हीं सन्दर्भों में जब हम 'खंजन नयन' उपन्यास की बात करते हैं तो हम देखते हैं कि उस अराजक

समाज में रहते भी सूरदास का अदम्य साहस कभी कम नहीं होता। भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति-भावना अपना विस्तार लेती रहती है।

अमृतलाल नागर ने तुलसी के जीवन चरित्र को आधार बनाकर 'मानस का हंस' उपन्यास की रचना की। तुलसीदास का व्यक्तित्व हो या सूरदास का व्यक्तित्व, इन दोनों के संस्कारों के समन्वय से ही भक्ति साहित्य का जन्म होता है और यह भक्ति साहित्य हमें एक नई दिशा दिखाता है, हमें जागरण की तरफ ले जाता है, हमें धर्म की तरफ ले जाता है, सत्य की तरफ ले जाता है। हममें सोचने-समझने की बुद्धिमत्ता पैदा करता है। अमृतलाल नागर जी ने 'खंजन नयन' में सूरदास के व्यक्तित्व को सोपान दर सोपान उद्घाटित किया है, जिसमें उनके संस्कारों को देखा जा सकता है।

सूरदास के समय भारत में काफी विसंगतियाँ थी। एक तरफ पंडितों की रूढ़िवादिता थी तो दूसरी तरफ इस्लाम की अराजकता। सूरदास ने देखा कि उनके समय किस तरह भारत में मन्दिरों को तोड़ा जा रहा है, मूर्तियों को तोड़ा जा रहा है और दूसरी तरफ जो कुछ विशेष भारतीय सम्पदा के संस्कार बचे हुए थे उन्हें भी आतताइयों द्वारा नष्ट किया जा रहा था। सूरदास को इन दोनों से मुकाबला करना पड़ा और इन दोनों से लड़ने के लिए उन्होंने जो सबसे सटीक और मजबूत हथियार चुना वह कृष्ण भक्ति थी। कृष्ण भक्ति परम्परा ने टूटे हुए भरतीय समाज को एकजुट करने का प्रयास किया। कृष्ण भक्ति परम्परा की लोकरंजकता ने अपने गुरुत्वाकर्षण के द्वारा भारतीय जन-समाज को आवरणबद्ध किया।

'खंजन नयन' उपन्यास एक जीवनीपरक उपन्यास है जो सूरदास के व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके कृष्ण भक्ति मूल्यों को भी उद्घाटित करता है।

माँ हमारे संस्कारों की जन्मदात्री होती है। उसके दिये हुए संस्कार हमारे सम्पूर्ण जीवन में एक ज्योति के रूप में स्थापित रहते हैं।

"बचपन में माँ ने एक बार श्री राधा माधव के विग्रह का परस करवा दिया। वह छुवन अब बिजली बन गई है। मेरी अनामिका के स्पर्श से वह बिजली मेरी त्रिकुटी में समाती है। हमारे संन्यासी गुरुजी डाँटें की नहीं, सीधे त्रिकुटी में ध्यान लगाओ। आँखों वालों को सधती होगी, मेरी तो परस बिजुलिया चमके है, उसी से ध्यान सधता है।"

तुलसीदास की तरह सूरदास का जीवन भी संघर्षों भरा रहा था। उपन्यासकार ने पारसौली को सूरदास का जन्म-स्थान बताया है। जब सूरदास महज चार वर्ष के थे तो उनका परिवार सीही चला गया।एक तरफ सिकन्दर सुल्तान की अराजकता और दूसरी तरफ पारिवारिक ईर्ष्या भेदभाव के कारण उन्हें घर छोड़ना पड़ा।

सूरदास जन्मान्ध थे। इस उपन्यास में बताया गया, घर से दूर होने के बाद एक संन्यासी गुरु जी की कृपा से मीनमेख सीख चुके थे। वे ज्योतिष गणना भी कर लेते थे।

तत्कालीन भारतीय जनमानस में जो भक्ति परम्परा थी, उसमें वीतराग और इष्ट नाम, जप प्रचलित था। सूरदास गायन शैली में विशेष रुचि रखते। जो उस समय के समाज कोा पसन्द नहीं आता था। अपने आपको पण्डित घोषित करने वाले लोग इसका विरोध करते थे, लेकिन सूरदास निडरता से अपने प्रभु का गीत गाते रहे।

आज समाज में कुछ ऐसे लोग हैं जो धर्मनिरपेक्षता का राग अलापते हैं। हम सभी धर्मों के प्रति सम्मान भाव रखते हैं, लेकिन हमारे धर्म की कोई निन्दा करता है तो उसे हम अस्वीकार भी नहीं करते उसका प्रतिरोध हम स्वाभाविक गुण समझते हैं।

सूरदास के समय के भारत में तुर्कों का जो आतंक था उसका भी चित्रण इस उपन्यास में किया गया। भगवान की नगरी मथुरा को 'काफिरों का काबा' कहा जाता था। भक्तों पर जुल्म ढाए जाते थे उनके साथ लूट होती थी और मन पर धर्म परिवर्तन करने का दबाव बनाया जाता है। उपन्यास में इस बात का उल्लेख अमृतलाल नागर जी ने किया है।

"किसी यवन तान्त्रिक ने वहाँ ऐसा यन्त्र टाँग रखा था कि उसके नीचे होकर निकलने वाले प्रत्येक हिन्दू की शिखा कट जाती थी और उसे बलात् दूसरे धर्म का मान लिया जाता था।"[२]

इस विषम परिस्थितियों में हिन्दू जनमानस ने भगवान कृष्ण को याद किया। सूरदास में जो विलक्षण प्रतिभा थी वह इसी विषम परिस्थितियों की देन थी। उन्हें अपने भगवान पर भरोसा था। मथुरा, वृन्दावन में सूरदास कृष्ण गान करने लगे।

"एक दिन बोलेगा, वही सच्चा सखा है।" और.... फिर कृष्ण मन बोलने लगा। सूरज को लगा उसके भीतर उसी की एक आवाज दूसरी होकर बोलने लगी। उसकी वंशी बजने लगी। सूरज-मन उन्हीं धुनों को गुनगुनाने लगा, पद रचना करने लगा।"[३]

सूरदास का अन्तर्मन कृष्ण धुन में मस्त था। उन्होंने अपना जीवन श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया। अपने स्वभाव में कृष्ण स्वभाव को धारण कर लिया। 'खंजन नयन' उपन्यास में सूरदास ने अपने कृष्ण के स्वरूप को उद्घाटित किया है।

"एक तो जनम का अन्धा, दूसरे माँ ने बचपन में मेरे जिस उत्तर देने वाले मन को मेरा कृष्ण मन बतलाया था, वह है तो सच्चा, पर बीच-बीच में लोहे के किवाड़ बन्द करके ऐसे बैठ जाता है कि पुकारो, गुहार लगाआ तो भी नहीं सुनता.... चाई कहीं का।"[४]

कभी-कभी सूरदास कवि तो अपने भगवान से भी लड़ जाते हैं और कभी इतने प्रसन्न होते हैं कि गाने लगते हैं–

बन्दौ चरन कमल हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै,
अन्धे को सब कुछ दरसाई।[५]

सूरदास जब कभी निराशा या असहाय की स्थिति में होते थे, तो उनके मन में श्याम स्वर गूँजने लगता था वह दीन-हीन अवस्था में अपने प्रभु से याचना करते हैं, जैसा तुलसीदास ने कवितावली में किया था। सूरदास को कभी-कभी अपने अन्धेपन का एहसास हो जाता था, उनका मन उस अपराध भावना से ग्रसित हो जाता था। ऐसी अवस्था में वह अपने श्याम की स्तुति करते हैं–

प्रभु, मेरे गुन अवगुन न विचारौ।
कीजै लाज सरन आए की रवि सुत त्रास निवारौ।
जोग जज्ञ जप तप नहिं कीन्हौ, वेद विमल नहीं भाख्यौ।
अति रस लुब्ध स्वान जूठनि ज्यौं अनत नहीं चित राख्यौ।[६]

सूरदास के कृष्ण यशोदा के लाडले, माखन चोर, लोकरंजक, लोकरक्षक कृष्ण हैं। अन्य भावों के साथ-साथ सख्य भाव उनमें इतना है कि अपने याचकों और भक्तों के लिए कुछ भी कर सकते हैं। 'खंजन नयन' उपन्यास में उसी कृष्ण स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। सूरदास के कृष्ण ऐसे हैं कि जिसे सिर्फ अन्तर्मन में महसूस किया जा सकता है उसको बयां नहीं किया जा सकता। स्वयं सूरददास जी कहते हैं कि–

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे फल को रस अन्तरगत ही भावै।।[७]

सूरदास ने कृष्ण बाल स्वरूप का जो वर्णन किया है वह उनके अलावा और कोई कर भी नहीं सकता था। स्वयं हिन्दी साहित्य के महान आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सूरदास के सन्दर्भ में कहते भी हैं।

''श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं।[८]

सूरदास जी ने कृष्ण के बाल गोपाल, राधा कृष्ण और लोकरक्षक कृष्ण के स्वरूप को उद्घाटित किया है। सूरदास ने वात्सल्य के क्षेत्र में कृष्ण के बालस्वरूप के विभिन्न प्रसंगों पर प्रकाश डाला। इसी से जुड़ा हुआ एक प्रसंग जो 'खंजन नयन' उपन्यास में भी चित्रित है। माता यशोदा अपने वात्सल्य में सब कुछ भूल जाती हैं। उन्हें बस अपने कृष्ण के नूपुरों की आवाज ही सुनाई देती है।

''यशोदारानी अपने मनोविनोद के लिए ताल बजा-बजाकर शिशु श्याम को आँगन में नचा रही हैं। कृष्ण के नूपुरों और करधनी में लटके घुँघरू छम-छम बोल रहे हैं और माता के तालियाँ बजाने और गाने

से प्रेरित होकर स्वयं भी तालियाँ बजाकर अपनी तोतली वाणी से उनकी नकल करके गाते और नाचते हैं।''[९]

इस प्रकार के कई दृश्य हमें सूर काव्य में दिखाई देते हैं। कभी मित्र से उनकी लड़ाई हो जाती है तो कभी भाई बलराम से उनकी लड़ाई हो जाती है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने सूरदास के इस बाल मनोवृत्ति के विषय में उल्लेख किया है।

''कभी बाहर की दुनिया में कानों पड़े बच्चों के खेल सूर के मनोजगत् में दृश्यमान होकर कृष्ण लीलाओं का रूप धारण कर लेते हैं। भाव, श्रुति और स्मृति की पूर्ण एकाग्रता से संगठित समस्त चेतनाओं की तरंगावलियों में उन्हें भीतर की दुनिया की इच्छित छवियाँ तो दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु बाहर की दुनिया वैसी की वैसी ही काली चादर में लिपटी हुई रहती है। इसलिए सूर को बाहर के बजाय अपने भीतर रहना अधिक सुहाता है।''[१०]

अमृतलाल नागर जी ने यह बताया है कि कृष्ण जन्मांध थे। लेकिन तत्कालीन समाज में जो भी बालस्वरूप वृत्त उन्हें स्पर्श करता है उसका सहज वर्णन वह अपने कृष्ण स्वरूप में करते हैं। इसी प्रकार इस उपन्यास में श्री कृष्ण के राधा स्वरूप को भी प्रदर्शित किया गया है जब राधा और कृष्ण का मिलन होता है तो कृष्ण राधा से पूछते हैं।

''पूछत श्याम कौन तू गोरी।''[११]

सूरदास जी ने रासलीला और गोपीलीला का सुन्दर वर्णन किया है। रासलीला का ऐसा प्रसंग अन्यत्र कहीं नहीं देखने को मिल सकता है। प्रेम के दोनों पक्षों का जैसा चित्रण सूरदास ने किया है वह बाद में हमें रीतिकालीन कवियों में देखने को मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इस बात को जोर देकर कहा है–

''इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पंक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोक के बन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।''[१२]

यह हमें दिखाई भी देता है। सूरदास ने कृष्ण भक्ति के माध्यम से ब्रजभूमि और ब्रजभाषा को सम्पूर्ण भारत में प्रतिष्ठा दिलाई। ऐसा लगता है कि रासलीला सिर्फ और सिर्फ ब्रजभूमि में ही हो सकती। आज भी हम इसका प्रभाव देख सकते हैं।

''बारह वनों और चौबीस उपवनों वाली ब्रजभूमि, जहाँ पहुँचकर मनुष्य अपने राग, अनुराग, काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, द्वेषादि सभी भली-बुरी वृत्तियों को श्री कृष्णार्पित करके उसकी अविराम लीलाओं में रम जाता है।''[१३]

'खंजन नयन' उपन्यास में स्वाभिमानी सूरदास का व्यक्तित्व लेखक ने प्रस्तुत किया। उनकी भक्ति

किसी सत्ता के आगे घुटने नहीं टेकती। उनके लिए न्यायाधीश एक ही हैं, श्री कृष्ण। 'खंजन नयन' उपन्यास में इस बात का जिक्र लेखक ने किया है। ऐसा लेखक ने बताया है कि एक बार अकबर ने सूरदास को बुलाया और उनसे भजन सुने, प्रसन्नचित होकर अकबर ने कुछ माँगने के लिए कहा जिस पर सूरदास जी कहते हैं "अब मुझे फिर कभी न बुलाइएगा।"[१४]

'खंजन नयन' उपन्यास में ऐसा लेखक ने कुछ स्रोतों से बताया है कि एक सौ पाँच वर्ष की अवस्था में सूरदास इस जीवन से विदा लेते हैं। इस उपन्यास में सूरदास के व्यक्तित्व से जुड़े तमाम बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। उनकी भक्ति भावना, अष्टछाप में उनको पुष्टिमार्ग का जहाज कहा जाना, श्रीनाथ जी के मन्दिर में भजन-कीर्तन के द्वारा समाज में एक नये तरीके का प्रयोग करना, अपने जीवनकाल में मीरा और तुलसीदास का उनसे मिलने के लिए आना, सन्तों का प्रसंग, काशी, अयोध्या से जुड़ी तमाम घटनाओं का उल्लेख लेखक ने किया है।

सूरदास के जीवन संघर्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति के जीवन में जितना संघर्ष होगा वह व्यक्ति उतना ही कीर्तिमान स्थापित करेगा। ऐसा सूर के सम्बन्ध में उपन्यासकार संकेत भी करता है।

"सूरदास बोले–जब महान् पुरुषों के जीवन में बुरे ग्रहों का योग होता है तो वे दिन भी उनके लिए सुफलदायक ही हो जाते हैं।"[१५]

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि सूरदास के कृष्ण उनके अपने हैं। सूरदास के पहले कृष्ण काव्य जरूर लिखा गया है लेकिन कृष्ण का जो स्वरूप सूर ने समाज में स्थापित किया वह उनकी मौलिक सर्जना है। जनमानस में कृष्ण की लोकप्रियता में सूरदास का स्थान अप्रतिम है। उन्होंने कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बालगोपाल स्वरूप में, राधाबल्लभ स्वरूप में, राजनैतिक व्यक्तित्व के रूप में स्थापित किया। कृष्ण व्यक्तित्व का एकीकरण कर समाज में कृष्ण के प्रभुत्व को स्थापित किया। जब-जब कृष्ण का नाम लिया जाएगा तब-तब सूर का नाम लिया जाएगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. खंजन नयन–अमृतलाल नागर, संस्करण २०२२, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० १८
२. वही, पृ० १३
३. वही, पृ० २१
४. वही, पृ० २८
५. वही, पृ० ४१
६. वही, पृ० ३९
७. वही, पृ० १७५
८. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ संस्करण २०२२, पुनरावृत्ति २०१५, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० ११२

९. खंजन नयन–अमृतलाल नागर, संस्करण २०२२, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० २१९
१०. वही, पृ० २२०
११. वही, पृ० २२७
१२. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य–मैनेजर पाण्डेय, सातवाँ संस्करण २०२२, पृ० ४०
१३. खंजन नयन–अमृतलाल नागर, संस्करण २०२२, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ० २२३
१४. वही, पृ० २४२
१५. वही, पृ० २३३

–शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
(महामनापुरी लेन नं०-४)-२२१००५
मो० : ६३०६०२९८२९
ईमेल : 1996vikastiwari@gmail.com

संत-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों की बात

–पूजा सिंह

मनुष्य का जन्म होते ही उसके कुछ अधिकार सुनिश्चित हो जाते हैं। जैसे–स्वतन्त्रता, समानता, अच्छी शिक्षा एवं उत्तम स्वास्थ्य आदि ये अधिकार मानवाधिकार द्वारा सुरक्षित रहते हैं। हम किसी प्राणी मात्र को चाहे वह बूढ़ा हो, जवान हो या बच्चा हो, उसे धर्म, जाति, लिंग और रंग के आधार पर अलग नहीं कर सकते। मनुष्य होने के नाते प्रथमतः यह हमारा कर्त्तव्य बनता है कि हम एक-दूसरे के अधिकारों की रक्षा करें, उनका अतिक्रमण न करें। हमेशा से हमारे समाज में दो वर्ग के लोग होते आए हैं–पूँजीपति और गरीब। जो समर्थ लोग उनके द्वारा असमर्थ लोगों के अधिकारों का हनन होता आया है, उन्हें यह ज्ञात भी नहीं होता कि उनके अधिकारों का हनन हो रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण है शिक्षा का अभाव। जो हमारे सुदूर गाँव और शहरों के निम्न वर्ग और आर्थिक रूप से कमजोर लोगों तक नहीं पहुँची है। इसके लिए जितना प्रयास किया जाए कम है।

हम मनुष्यों से ही समाज का निर्माण होता है और एक स्वस्थ समाज का निर्माण हम तभी कर सकते हैं, जब हम दूसरे व्यक्ति को अपने जैसा समझें, उसके दुःख-सुख, उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को अपनी तरह जानें, उसके साथ दुर्व्यवहार न करें, चाहे वह किसी भी वर्ग और लिंग का हो। जिस प्रकार हम अपने अधिकारों की बात करते हैं, ठीक उसी प्रकार उनके लिए भी करें तो यह समस्या काफी हद तक कम हो सकती है। लेकिन हम यह प्रयास करने में कहीं न कहीं असफल हुए हैं। हमारे समाज में अभी भी पिछड़ों, वंचितों, दलितों, आदिववासियों और महिलाओं आदि को अधिकारों से वंचित रखा जाता है। आये दिन हम अखबार, सोशल मीडिया आदि के माध्यम से सूचनाएँ प्राप्त करते हैं कि किस तरह महिलाओं को अपने समानता के अधिकार, बुजुर्गों को सम्मान के साथ जीवन-यापन करने के लिए संघर्षरत हैं और गरीब बच्चों को किस तरह उनसे उनका बचपन छीन कर उनसे बाल मजदूरी कराई जाती है, हम इससे भली-भाँति अवगत है।

हमारे समाज में मानवाधिकार का हनन न होने पाए उसके लिए समय-समय पर प्रयास होते रहे हैं। हमारी सरकारों ने मानवाधिकार की सुरक्षा हेतु कई अभियान भी चलाया है। साथ ही आयोगों का गठन भी हुआ है और हमारे समाज के प्रबुद्ध और बुद्धिजीवियों द्वारा तरह-तरह के प्रयास होते रहे हैं, परन्तु जब तक हम आम मनुष्य अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं होंगे, एक-दूसरे की भावनाओं, जरूरतों को नहीं समझेंगे तब तक यह समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। मनुष्य होने के नाते हमारा

कर्त्तव्य है कि हम एक-दूसरे की मदद करें उनकी भावनाओं का आदर करे, सबको समानता का अधिकार दें तभी एक स्वस्थ समाज का निर्माण सम्भव होगा।

हम मनुष्यों के मानवाधिकार संरक्षण की बात किसी-न-किसी रूप में हमारे ऋषि-मुनियों, संत कवियों की बानियों और साथ ही तमाम साहित्यकारों के साहित्य में दिखाई देती है। साहित्य जो हमारे समाज का प्रमुख अंग है। उसके विविध विधाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त प्रेम, भाईचारा, समभाव, सद्भाव, समानता एवं सहिष्णुता आदि मानवीय मूल्यों और संवेदना का दर्शन होता है। साहित्यकार अपने विचारों और संवेदनाओं के माध्मय से मनुष्य के दुख तकलीफ, स्वतन्त्रता तथा समानता की बात करता है। उसके लिए मनुष्य के मानवीय अधिकार सर्वप्रथम आते हैं। इसी सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं- *"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुःख कातर और संवेदनशील न ना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"*[४]

साहित्य का जन्म मनुष्य के जन्म के साथ ही हुआ है। उसका रूप भले ही मौखिक और श्रुति परम्परागत रहा हो। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब रूप होता है। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। अतः उसकी रचनाओं में समाज का हर पक्ष, हर तेवर और आयाम मूर्त हुआ करता है। मानव अधिकारों की चर्चा हमारे साहित्य में प्रारम्भ से होती आई है। प्राचीन काल से ही वैदिक वाग्मय में मानववाधिकारों के सन्दर्भ में ऋषि-मुनियों के अनेक श्लोक तथा ऋचाएँ उपलब्ध हैं। मानवाधिकारों का बीजारोपण हमारे मनीषियों में प्राचीन काल से व्याप्त था। चाहे वह हमारे ऋषि-मुनियों एवं महांत्माओं आदि के उपदेश हों, चाहे हमारे वेद-वेदांग हों, चाहे हमारे धार्मिक ग्रन्थों, वेद, पुराण, गुरु ग्रन्थ साहिब, बायबिल आदि सब में मानवाधिकारों का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

वास्तव में मनुष्य के चौमुखी विकास के लिए जिन सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है उसी की पूर्णता को हम मानवाधिकार की श्रेणी में रख सकते हैं। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक एक सामान्य जीवन व्यतीत करने का अधिकार रखता है। उसे वह अधिकार स्वत; मिल जाने चाहिए। परन्तु जैसे ही मनुष्य का जन्म होता है उस पर तमाम सामाजिक बन्धन लगा दिये जाते हैं जिसमें वह जीवन पर्यन्त घुटता रहता है और समाज नियम निर्माणकर्ताओं के अधीन अपना जीवन व्यतीत करता है। परन्तु हमारे समाज में ऐसे भी महान विभूतियाँ तथा पुण्य आत्माएँ हुई हैं जो आम मनुष्य के दुःख-दर्द तथा उनके मूलभूत अधिकारों के लिए अपनी लेखनी चलाई है।

प्राचीन साहित्य से लेकर मध्यकालीन तथा आधुनिक कवियों, लेखकों, साहित्यकारों ने मानव हित में अपने रचनात्मकता को सार्थक करने का प्रयास किया है। आदिकालीन तथा मध्यकालीन साहित्य में विशेषकर पूर्व मध्यकाल के संत साहित्य में मानवाधिकारों की बातें पुरजोर ढंग से उठाई जा रही थीं।

जबकि तत्कालीन परिस्थितियाँ सामान्य नहीं थीं, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक परिस्थितियाँ हो, परन्तु हमारे कुछ निर्भीक सन्तों कबीर, दादू, रैदास, गुरुनाक, मलूकदास, सुन्दरदास एवं रज्जब आदि ने अपने बानियों के माध्यम से शोषित जनता के दुःख-तकलीफ को व्यक्त कर रहे थे। जब उस समय आम जनमानस में जातिभेद, ऊँच-नीच का भाव चारों तरफ व्याप्त था, लोगों के मन में एक भय समाया था, उन्हें अभिवव्यक्ति की आजादी मिली थी, जातिवाद चरम पर था, धार्मिक और राजनीतिक स्थिरता नहीं थी। ऐसे में लोगों की समानता के अधिकारों की बात ये संत कवि अपने पदों और बानियों के माध्यम से व्यक्त किया कर रहे थे। उस समय समाज में सामान्य जन की स्थिति बहुत दयनीय थी। चूँकि उनके पास धन नहीं था तो समाज में उनका आदर और सम्मान भी नहीं था तथा जिनके पास धन था उन्हीं का सम्मान था इसी स्थिति को कबीर इन पंक्तियों के माध्यम से व्यक्त करते हैं–

निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करे ओहु चित न धरेई।
जो निर्धन सरधन के जाई। आगै बैठा पीठ फिराई।।
जो सरधन निर्धन के जाई। दीया आदर लिया बुलाई।।[२]

तत्कालीन समय में लोगों में प्रेम और सौहार्द्र खत्म हो गया था, जाति-पाति का भेदभाव चरम पर था और उसका प्रभाव समाज पर पड़ने के कारण समाज खोखला हो रहा था। इस स्थिति को लक्ष्य करके कबीर कहते हैं–

एक बूँद एक मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति थे सब उपजा, कौन बाम्हन कौन सूदा।।[३]

उस समय छुआछूत किसी महामारी की तरह पूरे समाज में व्याप्त था, लोक इस समस्या से त्रस्त थे। उनके स्वास्थ्य की चिन्ता किसी को नहीं थी। मानवीयता और मानवाधिकार तो दूर की बात है, लोग उनसे कोसों दूर भागते थे। कबीर साहब निर्भीकता से कहते हैं–

पंडित देखहु मन में जानी।
कहु धौ छुति कहाँ से उपजी, तबहि छुति तुम मानी।।[४]

ऊँच-नीच का भाव उस समय समाज में दीमक की तरह फैला था, जो समाज को ही नहीं बल्कि व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता को भी कुरेद कर नष्ट कर रहा था। परन्तु कबीर जैसे निर्भीक, निडर सन्त द्वारा समय-समय पर समाज का दिग्दर्शन होता रहा है, क्योंकि वे खुद इस सामाजिक व्यवस्था के भुक्तभोगी रह चुके हैं। कबीर कहते हैं–

ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय।
स्वर्ण कलस मदिरा भरा, साधुन निन्दै सोय।।[५]

तत्कालीन परिस्थितियाँ मानवाधिकार के सन्दर्भ में बहुत दयनीय था। जाति-पाति का भाव समाज

में इस तरह व्याप्त था कि रैदास जैसे सन्त महात्मा अपनी जाति को निकृष्ट मानते थे और वह कह उठते हैं कि–

जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है, कहि 'रैदास चमारा।।[६]

मनुष्य के अधिकारों में एक समानता का अधिकार भी होता है। उसे जाति, लिंग, वर्ण, रंगभेद या छोटे-बड़े के आधार पर नहीं बाँटा जा सकता। हर मनुष्य का यह अधिकार है कि उसे समाज में समानता का अधिकार मिले, उसे पहनने को वस्त्र तथा दो जून की रोटी बिना किसी भेदभाव के उपलब्ध हो। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थी। इसी सामाजिक विषमता को देखते हुए रैदास जी समतावादी शासन व्यवस्था की कल्पना करते हुए कहते हैं–

ऐसा चाहौ राज मैं, जहाँ मिलै सबन का अन्न।
छोटा बड़ो सब सम बसै, रविदास रहै प्रसन्न।।[७]

सामज में हमेशा से दो वर्ग के लोग होते हैं। उच्च वर्ग तथा निम्नवर्ग इनके बीच हमेशा द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है। अभिजात्य वर्ग हमेशा से निम्न वर्ग का शोषण करती आई है। उसके अधिकारों का हनन करती आई है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ मध्यकाल की थी। सत्ताधारी लोग सुख भोग रहे थे, परन्तु आम मनुष्य को तरह-तरह के कष्टों को सहना पड़ता है चाहे वह ठण्डी हो, गर्मी हो, बरसात हो, परन्तु वह अभाव में जिन्दगी गुजारते हैं। इन्हीं परिस्थितियों से सन्त सम्राट् कबीरदास को भी गुजरना पड़ा था वह कहते हैं कि–

इब ना रहा हूँ माटी के घर में। इब मैं जाई रहूँ मिलि हरि मैं।।
छिनहर घर अरु झिरहर टाटील। घन गरजत काँपै मेरी छाती।।[८]

मानवाधिकार वह आधारभूत अधिकार है, जो विश्व के किसी भी हिस्से में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मानवोचित गुण होने के कारण मिलने चाहिए। इस सन्दर्भ में मानवाधिकार भेदभाव के बिना प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य तरह से जीवन करने की गारण्टी देता है, परन्तु कबीर कालीन परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थी जैसा कि कहा भी गया है "भूखे भजन न हो गोपाला।" इसी भूख को लक्ष्य करके कबीर कहते हैं–

भूखे भगती न किजै। यह माला अपनी लीजै।।
दुई सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगी लूना।।[९]

संतों ने अपने बानियों और पदों के माध्यम से तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का चित्रण अपने अनुभव के माध्यम से व्यक्त किया है। क्योंकि वे शाही महलों और राज दरबारों में नहीं रहा करते थे, वो सीकरी में नहीं जन-सामान्य के बीच उनके सुख-सुख, तकलीफ आदि अनुभव करके अपनी बानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करते थे। समाज यदि शरीर है तो साहित्य उसकी आत्मा। तत्कालीन समाज की

रीति-नीति, धर्म-कर्म आदि को साहित्य में अभिव्यक्त किया जाता रहा है। साहित्य के द्वारा हम अपने राष्ट्रीय इतिहास, संस्कृति और सभ्यता, पूर्वजों के अनुभूत विचारों एवं अनुसन्धानों, प्राचीन रीति-रिवाज, रहन-सहन और परम्पराओं से परिचय प्राप्त करते हैं। यूँ ही नहीं साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। हर काल का साहित्य अपने समय का प्रतिबिम्ब दिखाता है। तत्कालीन समाज में किस प्रकार आमजन के मानवाधिकारों का हनन हो रहा था तथा जाति-व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी, छुआछूत की भावना चारों तरफ व्याप्त थी। स्त्रियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार होता था तथा उन्हें मनोरंजन की वस्तु समझा जाता था। गरीबी और भुखमरी चारों तरफ व्याप्त थी। मध्यकाल के सन्तों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का चित्रण बहुत प्रभावशाली ढंग से किया है।

साहित्य में मानवाधिकारों की चर्चा आज से नहीं आदिकाल और मध्यकाल से होता आ रहा है। विशेषकर मध्यकालीन सन्तों कबीर, जायसी, रैदास, रज्जब, सुन्दरदास एवं दादू दयाल आदि ने अपनी पद्यों में व्यक्त किये हैं। परन्तु जिस प्रकार तब से अब तक के साहित्य, देश, काल, वातावरण में परिवर्तन हुए हैं वैसे ही मानवाधिकारों में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी कहते हैं– *''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता के चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता के चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।''*[४]

प्राचीन समय से हमारे समाज में तमाम परिवर्तन हुए हैं। उसके साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन हुआ है। चूँकि साहित्य समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम है तो हमें मानवाधिकार का दायरा और विस्तृत करना चाहिए ताकि उसमें हम खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा किसानों, आदिवासियों, स्त्रियों की सुरक्षा तथा उनकी स्वतन्त्रता, भ्रूण हत्या, समाज के किसी भी तबके के लोग ससम्मान अपना जीवन व्यतीत कर सकें, ये उपरोक्त मानवाधिकार आज सम्मिलित किये जाने की आवश्यकता है जिसकी बात हमें सन्त साहित्य में देखने को भी मिलता है। सन्तों ने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैचारिक रूप से सबकी समानता एवं स्वतन्त्रता की बात की साथ ही उन्होंने मानव मूल्यों एवं मानव के अधिकारों की भी बात की। जिसकी झलक हम उनकी बानियों, पद्यों और कृतियों में पाते हैं। आज के मानवाधिकार का दायरा भले ही बढ़ा है, किन्तु इसकी नींव हमें सन्त साहित्य में देखने को मिलती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है', अशोक के फूल संग्रह–हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६६
२. कबीर ग्रन्थावली–श्यामसुन्दर दास, परिशिष्ट, पृ० २३०
३. मानवतावाद और मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य, उत्तर प्रदेश संस्थान, प्रथम संस्करण २०२२, पृ० ११५
४. कबीर बीजक–डॉ० शुकदेव सिंह, २००५, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ० १२५

५. कबीर ग्रन्थावली सटीक–डॉ० पुष्पपाल सिंह, नवीन संस्करण २०१६, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, पृ० १९
६. सन्त रविदास, वीरेन्द्र पाण्डेय, चतुर्थ संस्करण २०१७, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ० १५
७. दर्शन एवं मीरा पदावली–निशान साहित, श्री गुरु रविदास, पृ० १५१
८. कबीर ग्रन्थावली–श्यामसुन्दर दास, १९८५, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, पद्य २२२, पृ० २११
९. मध्यकालीन सन्त साहित्य–रामखेलावन पाण्डेय, प्रथम संस्करण १९६५, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय प्रकाशन, वारणसी, पृ० १०८
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अठारहवाँ संस्करण २०२२, काल-विभाग, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पृ० २८

–शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
इलाहाबाद डिग्री कॉलेज,
इ०वि०वि०, प्रयागराज

भारतीय साहित्य में लोक परम्परा का चित्रण

–रितु यादव

लोक–साहित्य मौखिक और लिखित आदिम संस्कारों की एक विशाल परम्परा है। जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होता रहता है। इसका तात्पर्य आदिकाल से चली आ रही लोककथाओं के माध्यम से संस्कारों, नैतिकदायित्वों, जीवनमूल्यों, परम्पराओं, रीति–रिवाजों तथा विविध आदर्शों का सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक पहलू से है। लोक साहित्य समग्र लोकजन के संयोग–वियोग, राग–विराग तथा सुख–दुख को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति लोक साहित्य में सरल, सहज तथा अकृत्रिम रूप में मिलता है। यहाँ परलोक संस्कृति स्वाभाविक व सरस रूप में प्रवाहित होती है।

लोक साहित्य में लोकभाषा के अन्तर्गत कहावतें, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, पहेलियाँ, लोकचिन्तन, लोक–दोहे, लोक–उपमान, हास्य–व्यंग, लोक–शब्दावली, लोक–सुभाषित, लोक–व्युत्पत्ति, ताने, फब्तियाँ, गालियाँ, नामकरण, विशिष्ट ध्वनियाँ, स्थानीय नाम और टीका–टिप्पणी आदि भाषाओं का चित्रण किया गया है।

'सिद्धान्त कौमुदी' में लोक–शब्द की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि 'लोकशब्द संस्कृति के 'लोकदर्शने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ 'देखना होता है, जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ 'देखनेवाला'। अतः वह समस्त जनसमुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाएगा।[१]

महावैयाकरणकर्ता पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में 'लोक' तथा 'सर्वलोक' शब्द को विस्तृत रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा है कि ''लोक तथा सर्वलोक शब्द में 'घञ्' प्रत्यय करने पर लौकिक तथा सार्वलौकिक शब्दों की निष्पत्ति हुई। पाणिनि ने वेद से पृथक् लोक की सत्ता को स्वीकर किया है वेद में इसका रूप अमुक प्रकार है, परन्तु लोक में इसका स्वरूप भिन्न प्रकार का है।[२]

लोकसंस्कृति निरन्तर तथा स्वाभाविक रूप से चलनेवाली परम्परा है, जो सहज, सरल तथा नियमबद्धता से परे है। लोकसंस्कृति लिखित रूप में न होकर बल्कि पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलने वाली मौखिक परम्परा है। लोकसंस्कृति की अभिव्यक्ति अहम्चैतन्य, शास्त्रीय ज्ञान के अभिमान, पाण्डित्यबोध आदि से भिन्न है। सांस्कृतिक प्रवाह के आधार पर लोक शब्द एक ओर मानसिक स्तर का सूचक है तो दूसरी ओर जनसमुदाय का द्योतक है।

लोकसंस्कृति किसी–न–किसी रूप में सदैव विद्यमान रहता है। वह प्रत्येक भावमय, कलामय, बौद्धिक स्तर पर एक रूप होने में सहायता करता है। लोक वह जन समुदाय है जो नगरीय, सांस्कृतिक,

आर्थिक व सांस्कारिक के साथ-साथ लोक मनोवृत्तियाँ केवल गाँव की ही धरोहर नहीं हैं, बल्कि नगरों व महानगरों तक अपनी सत्ता को विस्तारित की है।

लोक साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना की मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। इसी सन्दर्भ में लोक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान डॉ० सत्येन्द्र लिखते हैं कि "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वह लोकसाहित्य कहलाते हैं।[३]

लोक-संस्कृति जनसाधारण की संस्कृति से है। जो अपनी सहज चेतना से प्रवाहमयता प्राप्त करती है और वह लोक आभिजात्य वर्ग की संस्कृति और बौद्धिक चेतना से परे होकर अपनी सहजता से विकसित होती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' के सन्दर्भ में लिखते हैं कि "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई समूची जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधारपोथियाँ नहीं हैं।"[४]

लोक का तात्पर्य सामान्यजन से है जो किसी समुदाय से बँधा नहीं होता है। साधारण मानव वास्तविक जीवन जीने के लिए तथा लोक परम्पराओं में अटूट विश्वास करते हुए अपनी रुचि तथा व्यवहार में परिवर्तन करता है। इस सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं कि "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोकराष्ट्र का स्वरूप है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है।"[५]

लोकसाहित्य में रहन-सहन, रीति-रिवाज, परम्पराओं, प्रथाओं, मान्यताओं, धारणाओं, धर्मों तथा अनुष्ठानों आदि का बोध कराते हुए डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-संस्कृति के सार्थक शब्दों का प्रयोग करते हुए व्याख्यायित करते हैं कि "लोकसंस्कृति के अन्तर्गत जनजीवन से सम्बन्धित जितने भी आचार-विचार, रहन-सहन, विधि-निषेध, प्रथा-परम्परा, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, खान-पान, वेश-विन्यास और मूढ़ाग्रह अनुष्ठान आदि हैं।"[६]

लोकपरिवेश में कृषि, पशुपालन, ग्राम्य वातावरण, खेत-खलिहान, वनस्पति, औषधि, वन्य-सम्पदा, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु तथा नदियाँ आदि प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं। लोकजीवन पद्धति के अन्तर्गत लोक-व्यवसाय, दिनचर्या, खान-पान, वेश-विन्यास, आवास, खेल, तमाशे, मेले आदि आते हैं। लोकसंस्कृति के अन्तर्गत समाज में व्याप्त कुरीतियाँ, अन्धविश्वास, जादू, टोना-टोटका, झाड़-फूँक, तन्त्र-मन्त्र, शकुन-अपशकुन एवं जीवन-मृत्यु आदि शामिल होते हैं। लोककला के अन्तर्गत लोकसाहित्य की विविध विधाएँ—लोककथा, लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोकसंगीत, लोकनृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व कढ़ाई-बुनाई आदि हैं।

भारत कृषि प्रधान देश रहा है। लोकसंस्कृति में कृषि तथा पशुपालन प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिककाल में सर्वप्रथम पशुपालन पर जनमुदाय आश्रित था। उसके बाद समय के साथ कृषि की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। क्योंकि समाज का एक बड़ा वर्ग सक्रिय रूप से कृषि कार्य में संलग्न रहा है। इसी सन्दर्भ में एकान्त श्रीवास्तव अपनी कविता में लिखते हैं कि–

शुरू कटाई/देखो तो बैलों की मदमाती चाल।
अन्नपूर्णा गाड़ियों का साँझ ढले लौटना
किसिम-किसिम के नामों के धान।
धानों भरा मेरा शरद का आँगन।''[७]

विश्व में जिस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति का विकास हो रहा है। उससे प्रभावित होकर अनेक जीव-जन्तु, पशु-पक्षी विलुप्त होते जा रहे हैं। वन्य-सम्पदा का तेजी से दोहन तथा वनस्पतियों का विनाश इसका मुख्य कारण है।

'गौरैया' नामक पक्षी विलुप्त की श्रेणी में आती है। कवि अशोक वाजपेई अपनी चिन्ता कविता के माध्मय से व्यक्त करते हैं–

उस गहरे नीले अन्धेरे से आलोक-स्फुरित होकर आने से पहले।
एक दस्तक सुख के द्वार पर, एक और थपथपाहट आलस्य-भरी।[८]

लोकजीवन में जिस प्रकार जीव-जन्तु, पशु-पक्षी का होना आवश्यक है ठीक उसी प्रकार पेड़-पौधे, औषधि, वनस्पतियाँ तथा वन्य-सम्पदा का होना। हम लोकसंस्कृति में पेड़-पौधों को जीवित प्राणी मानकर उनके सुख-दुख के प्रति भी संवेदनशीलता का भाव उजागर करते हैं।

लोकसंस्कृति प्रायः ग्रामीण महानगरीय संस्कृति का ही दूसरा रूप होती है। कृषि कार्य लोक जीवन में जीविका का प्राचीनतम साधन रहा, आधुनिकी करण के कारण आज कल गाँव, नगरों या महानगरों में बदलते जा रहा हैं। खेती नष्ट हो जा रही है किसान मजदूर बनते जा रहे हैं। इसी सम्बन्ध में एकान्त श्रीवास्तव लिखते हैं–

कभी देखो, महाजनी की महीन पैंतरे बाजियाँ,
जलती हुई फसलें
नीलम होते गाय-बैल,
बिकते हुए खेत
और उसकी मिट्टी से
लिपट कर रोता हुआ किसान।[९]

लोकजीवन में नदियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आध्यात्मिक भाव से परिपूर्ण लोक संस्कृति में नदियों को देवी तथा माता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। नदियाँ केवल कृषि कर्म में ही सहायक नहीं होती, बल्कि पूजा-पाठ, लोकोत्सव एवं अन्त्येष्टि संस्कार में भी सहभागी होती है। रमेशचन्द्र शर्मा अपनी कविता 'मांनदी' में भाव-विह्वल होकर लिखते हैं–

माँ की तरह ममता, याद, सम्मान, स्नेह, आँचल।
पोषण जल मिलेगा, जंगल मिलेगा।
प्राण मिलेगा, प्राणी मिलेगा।
जीव मिलेगा, जंतु मिलेगा।
नदी का किनारा मिलेगा।[१०]

आर्थिक विपन्नता का एक और मार्मिक चित्र समाज में देखने को मिलता है कि ठण्ड से बचने के लिए पर्याप्त वस्त्रों का अभाव रहता है। जिससे घर की स्त्रियाँ फटे-पुराने वस्त्रों को मिलाकर रजाई नुमा बिछौना बनाती थी। उदाहरण के तौर पर ठण्ड से बचने के लिए चाँद अपनी माता से हटकर बैठा है, इसको दिनकर जी अपने शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं–

हठ कर बैठा चाँद एक दिन, माता से यह बोला।
सिलवा दो माँ मुझे, ऊन का मोटा एक झिंगोला।।[११]

भारत वर्ष की लोकसंस्कृति में घर और परिवार की महत्ता बहुत अधिक है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार का एक आदर्श उदाहरण देखने को मिलता है। समय के परिवर्तन के साथ घर-परिवार में बिखराव व तनाव दिखायी देने लगा है। वही परिवार जो पहले मिल-जुलकर हर्ष-विषाद में शामिल होता था अब वही संयुक्त परिवार किसी भी सुख-दुख में खुशियाँ मनाता हुआ नजर नहीं आता है।

लोकसंस्कृति जीवन में नये घर निर्मित होने पर उसमें प्रवेश करने से पूर्व विधि-विधान से पूजा-पाठ, अनुष्ठान करवा कर गृह प्रवेश की परम्परा का निर्वाह किया जाता है। भारतीय दर्शन एवं हिन्दू-संस्कृति में गृह प्रवेशकरने से पहले शुभ-मुहूर्त का विशेष महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। इस शुभावसर पर अपने स्वजनों, सगे-सम्बन्धियों तथा कुटुम्बियों को सादर निमन्त्रित किया जाता है। इसीलिए 'गृह-प्रवेश' कविता लोक समाज में प्रचलित है–

धान की बालियों वाली झालर।
मैंने लटकाई दरवाजे की चौखट पर।
फिर भेजा चिड़ियों को न्योता।
गृह प्रवेश का विधिवत, चिड़ियों ने भी।
न्योतो को मान दिया, आई दाना चुगा।
और लौट गयी, बाहर रही बाहर दरवाजे से।

लोकसंस्कृति में एक पहाड़ी स्त्री के दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है। उस स्त्री के दुःख, दर्द एवं संत्रास के मूर्तिमान रूप में चित्रित किया गया है। वह मेहनत करके अपने दयनीय स्थिति को सुखद बनाना चाहती है और कमर तोड़ मेहनत कर रही है। निर्मला पुतुल अपनी कविता 'संथाल' में एक पहाड़ी स्त्री के झिल-मिलाते स्वरूप को दिखायी है–

वह जो सर पर सूखी लकड़ियों का गट्ठा।

लादे पहाड़ से उतर रही है।
पहाड़ी स्त्री, अभी-अभी जाएगी बाजार।[१२]

सात्विक आहार का सम्बन्ध भारत की सदियों पुरानी संस्कृति से है। व्यक्ति के विचार और भोजन में गहरा सम्बन्ध होता है, इसलिए भोजन बनाते समय मन में अच्छे और सकारात्मक विचार रखने से स्वादिष्ट भोजन बनता है। भोजन में सात्विकता के साथ–साथ सम्बन्धों में आत्मीयता का भाव भी होना चाहिए। सात्विक भोजन करने से आत्मा को तृप्ति मिलती है, लेकिन आजकल मनुष्य सात्विक आहार छोड़कर तामसिक आहार की तरफ आकर्षित होता जा रहा है। तामसिक भोजन करके मानव पेट तो भर ले रहा है, किन्तु तृप्त नहीं हो पा रहा है। तृप्त शब्द पेट की भूख मिटाने के साथ–साथ मानसिक सन्तुष्टि का भी बोध कराता है। सात्विक आहार को लेकर 'छान्दोग्योपनिषद' में कहा गया है कि–''आहार शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने से भावना दृढ़ होती है और भावना की स्थिरता से हृदय की समस्त गाँठे खुल जाती हैं।[१३]

भारतीय संस्कृति में हिन्दुओं के प्रमुख त्योहार धूम–धाम, हर्षोल्लास तथा आनन्दोल्लास से सबके साथ मनाया जाता है। लोक जीवन में प्रचलित विभिन्न तीज–त्योहार, व्रत–उत्सव हम सबके जीवन की नीरसता को दूर करके ऊर्जावान कर देती है। यह सभी त्योहार हमारे समाजिक एकता को भी मजबूत करते हैं। भारतीय संस्कृति में ये सभी त्योहार, गणगौर व्रत, अक्षय तृतीया या आखातीज, गणेशचतुर्थी, छोटी दीपावली, बड़ी दीपावली, गोवर्धनपूजा, भैयादूज, बसन्तपंचमी, नागपंचमी, महाशिवरात्रि, होलीपर्व, बुद्धपूर्णिमा, गुरुपूर्णिमा एवं शरद उत्सव आदि प्रत्येक वर्ष मनाए जाते हैं।

भारतीय संस्कृति में लोकोत्सव के साथ–साथ में लोक का भी सम्बन्ध चिरकाल से है। प्रत्येक त्योहार के पूर्व व पश्चात्य मेलों का आयोजन किया जाता है। इस मेले में लोग दूर–दूर से आते हैं और अपने सुविधानुसार वस्तुओं का क्रय–विक्रय करते हैं। परन्तु आज के परिवेश में मेलों का ह्रास होता जा रहा है इसका जिम्मेदार आधुनिक तकनीकी है जो घर बैठे ही समान या वस्तुएँ उपलब्ध करा रही हैं। इसलिए मेलों में पहले वाली रौनक नहीं रह गई। स्वप्निल श्रीवास्तव अपने 'मेले' कविता में लिखते हैं–

उड़ते जा रहे हैं मेले, जिन मेलों को देखते हुए मैं।
बड़ा हुआ वहाँ स्त्रियों के बिकने की सूचना है।।[१४]

लोक संस्कृति में पर्व–त्योहार, लोकोत्सव के भाति विभिन्न लोक प्रचलित विश्वास और मान्यताएँ लोकजीवन में देखने को मिलती हैं। जनसमुदाय में इस विश्वासों के प्रति प्रगाढ़ आस्था होती है। इसे पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित करने के लिए बिना सत्यता की परख किये इन्हें अपरिवर्तित रूप में मौखिक अन्तरण करते रहते हैं। लोक जीवन में एक मान्यता प्रचलित है कि मानव मरणोपरान्त तारा बन जाता है। विमल कुमार अपने कविता के माध्यम से इसे व्यक्त कर रहे हैं–

बस इतना भर जानते हैं कि मनुष्य मरने के बाद।
कोई तारा बन जाता है, और तारे मरने के बाद।
धरती पर मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं।[१५]

आज के समय में लोक-संस्कृति अपनी जीवनशक्ति को खोता जा रहा है। वास्तविकता एवं बनावटी का प्रदर्शन मात्र बनता जा रहा है। यही नहीं वह उस सहजता, स्निग्धता और मधुरता का अनुभव करना चाहता है। वह इस बात से पूरी तरह परिचित है कि यह सब उसे उस नगरीय सभ्यता में नहीं मिलेगा जिसका वह अभ्यस्त हो चुका है। वह नगरीय जीवन से व्यथित, कुंठित एवं संत्रास हो गया है। लोकसाहित्य मानवीय मूल्यों का परिपोषक एवं परिबोधक है। लोक कला के अन्तर्गत लोक साहित्य की विभिन्न स्वरूप, भाषाओं और शब्दों के भण्डार, जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, नृत्य, संगीतकला, लोककथा, लोकगाथा, लोकगीत तथा लोकनाटक आदि लोक साहित्य के अंग हैं। लोक की गंगा युग-युग से बह रही है, लोक जीवन महासमुद्र है जिसमें तीनों काल संचित रहते हैं। लोक साहित्य लोक मानस के लिए सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (१६वाँ भाग, हिन्दी का लोकसाहित्य)–सम्पादक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं०वि० २०१७, प्रस्तावना से, पृ० १
२. वही, प्रस्तावना, पृ० २
३. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन–डॉ० सत्येन्द्र, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण १९६०, पृ० ३
४. लोकसाहित्य का अध्ययन–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जनपद-पत्रिका, अक्टूबर १९५२, पृ० ६५
५. सम्मेलन-पत्रिका (लोकसंस्कृति विशेषांक)–डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, सं० २०१०, चैत्र-आषाढ़, पृ० ६५
६. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास–कृष्णदेव उपाध्याय, प्रस्तावना से, पृ० ११
७. मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद (शरद-गीत)–एकान्त श्रीवास्तव, प्रकाशन संस्थान, वर्ष २०१६, पृ० ५८
८. चटक विलसिता कविता–अशोक वाजपेई, प्रकाशन वर्ष १९९०
९. बीज से फूल तक (कन्हार कविता)–एकान्त श्रीवास्तव, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण १९५४, पृ० १३४
१०. प्राथमिक शिशुगान (मांनदी)–रमेशचन्द्र शर्मा, भावना प्रकाशन, वर्ष २००४
११. चाँद का कुर्ता–रामधारी सिंह दिनकर, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष १९९६
१२. नगाड़ेकी तरह बजते शब्द–निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वर्ष २००५, पृ० ४१
१३. सर्वेक्षण परिवार-भारतीय सर्वेक्षण विभाग, प्रथम अंक २०१६, पृ० २८
१४. मेले-स्वप्निल श्रीवास्तव–अभिनव कदम, मई-अक्टूबर, वर्ष २००१, पृ० ७०
१५. पानी का दु:खड़ा (तारे और मनुष्य)–विमल कुमार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष २००९, पृ० १९

–शोधार्थी

(हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

गोविन्द मिश्र के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

–डॉ० सरिता दुबे

स्त्री और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिए हैं, जिनके संतुलन पर समाज रूपी रथ अपने विकास पथ पर अग्रसर रहता है। इनमें से किसी एक के महत्त्व को भी कम करके नहीं आँका जा सकता है। एक के भी बड़े या छोटे होने से इसका सन्तुलन बिगड़ जाएगा। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से यही अवधारणा रही है। भूमिका भले ही अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न रही है, लेकिन समाज में स्त्री का महत्त्व सदैव से स्वीकृत रहा है। परम्परागत भूमिका में देखें तो स्त्री पहले घर परिवार की जिम्मेदारियों तक ही खुद को सीमित पाती थी। घर, परिवार ही उसकी पूरी दुनिया थी, लेकिन आधुनिक समय में स्त्री की भूमिका मात्र घर, परिवार तक ही सीमित नहीं रह गयी है। वह खुद के अस्तित्व की पहचान चाहती है। खुद का एक व्यक्तित्व चाहती है। आज स्त्री पढ़ी-लिखी है, शिक्षित और समझदार है। वह परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति पूर्ण सजग है साथ ही समझ में खुद की एक पहचान बनाने की इच्छुक है, जिसमें आर्थिक स्वावलम्बन अति आवश्यक है। स्त्री जीवन के विविध रूप विविध आयामों में गोविन्द मिश्र के उपन्यासों में रूपायित हुए हैं। हम देखते हैं कि मिश्र जी अपने उपन्यासों में पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों के प्रति संवेदनात्मक जुड़ाव रखते हुए प्रतीत होते हैं। मिश्र जी ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज में विवाह संस्था की पवित्रता और आत्मीयता को हृदय में धारण करने वाली परम्परागत भारतीय पत्नी के चित्रण से लेकर आधुनिकता की अन्धी दौड़ में शामिल उस नारी को भी अपनी लेखनी का विषय बनाया है, जो विवाह को सुख देने और लेने की व्यवस्था मानती है। गोविन्द मिश्र ने भारतीय समाज की रीढ़ कही जाने वाली वैवाहिक संस्था को लेकर स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में आये बदलाव को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से 'तुम्हारी रोशनी' उपन्यास में उठाया है। सुवर्णा पढ़ी-लिखी समझदार महिलाहै। उसका पति रमेश बड़ा अफसर है। उसे बाहर जाकर काम करने की कोई जरूरत नहीं है, लेकिन अपनी स्वतन्त्रता के लिए इसे आवश्यक मानती है–"मेरी राय में हर औरत को बाहर भी कोई-न-कोई काम करना चाहिए। तभी उनका पूरा विकास हो पाता है। मुझे पैसों की जरूरत नहीं थी पर शादी के बाद मैंने नौकरी की जरूरत महसूस की।"[१] उपन्यास स्त्री की स्वतन्त्रता के लिए उसका स्वार्थ स्वावलम्बन अनिवार्य मानता है। 'धीरे-समीरे' की नायिका सुनंदा के मजबूत व्यक्तित्व के पीछे उसका आर्थिक स्वावलम्बन होता है जबकि 'उतरती हुयी धूप' और 'धूल पौधों पर' की नायिकाएँ आर्थिक स्वावलम्बन के लिए प्रयासरत हैं। उन्हें परिवार में समझ में तभी तक दमित किया जा सकता है, जब तक वह आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर हैं।

आधुनिक नारी शिक्षित है। वह समाज में हो रहे बदलाव के प्रति जागरूक भी है। एक समय था पत्नी को पति की जागीर समझा जाता था। पति जो कहे पत्नी के लिए वह सर्वोपरि होता था। पत्नी के जीवन से जुड़े सभी महत्त्वपूर्ण मसलों पर पति को ही निर्णय लेने का अधिकार था। उसकी स्थिति खूँटों से बाँध दी गयी गाय की भाँति थी। स्वतन्त्रता जिसके लिए कल्पना की बात थी। वह खुद के विषय में भी निर्णय लेने की स्वतन्त्रता नहीं थी, लेकिन आज वस्तुस्थिति पूर्णतया परिवर्तित हो चुकी है। स्त्री और पुरुष को समाज के साथ-साथ भारतीय संविधान में भी बराबरी का दर्जा दिया गया है।

आधुनिक स्त्री अपनी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा स्वीकार करने को तैयार नहीं है–"मैं यह नहीं मानती कि सिर्फ इसलिए कि तुम मेरे पति हो, तुम यह तय करो कि मैं इससे मिलूँ, उससे न मिलूँ। बात तीन-चार आदमियों की नहीं है उस स्वतन्त्रता की है, जो ईश्वर ने मुझे दी है और जिसे तुम हड़प लेना चाहते हो।"[२]

आज की स्त्री स्वावलम्बी है। वह खुद को किसी पर बोझ के रूप में नहीं देखती है। व पति के कन्धों से कंधा मिलाकर अपन घर की जिम्मेदरी उठाना चाहती है। वह अधिकारों के साथ अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्णतया सजग है। बावजूद इसके जब उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है तो वह उसे सहन नहीं कर पाती। अरविन्द द्वारा सुवर्णा पर घर वापस जाने का दबाव बनाने पर वह अपना दुख व्यक्त करती है–"रमेश के साथ रहूँ..... एक तरह उम्रकैद! जानते हो जिस दिन श्याम के सामने उसने मुझे घसीटा था, तब से एक मिनट के लिए भी मैं यह नहीं भूल सकती कि मैं एक जानवर के साथ रह रही हूँ। तभी यह भी ख्याल आता है कि जो रमेश ने किया वह रमेश की जगह कोई और हो वह भी कर सकता है..... बिल्कुल वैसा ही।"[३] पति का रिश्ता, जो उसे मजबूत और गहरा रिश्ता माना जाता है, तो उसका विश्वास रिश्तों पर से डगमगाने लगता है। सुवर्णा का मानना है कि "कोई भी अच्छा सम्बन्ध बजाय भावनाओं को सीमित करने को उदार बनाता है, हमें।"[४]

आधुनिक नारी के तेज-तर्रार स्वरूप के चित्रांकन के साथ मिश्र जी ने परम्परागत नारी के धैर्य, त्याग और समर्पणमय रूप को भी अपने उपन्यासों में उभारा है। कमलाबाई, जोगेश्वरी देवी, शान्ति, ओमी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो परम्परागत भारतीय स्त्री के चित्र को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। वह अपने चरित्रगत ओजस्विता से अपने समाज और परिवार को विकास पथ पर अग्रसारित करती है। पति राधेलाल को स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल हो जाने के बाद शान्ति तमाम कठिनाइयों और संघर्षों का सामना करने के बावजूद भी अपने परिवार को बिखरने से बचाती है। राधेलाल के शब्दों में–"क्या है ये नारियाँ पति की आस्था अपनी आस्था.... कितना विश्वासपति पर ..... जो सब कुछ छीन लेता है, जो पत्नी को आर्थिक सुरक्षा तक नहीं देता।"[५] परम्परा स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में जो विश्वास, आत्मीयता, सहृदयता व्याप्त थी, वह आज भोगवादी मानसिकता के कारण क्षीण होती जा रही है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में बदलाव का सर्वप्रमुख कारण यही है। महत्वाकांक्षा के कारण कोई भी समझौता करने को तैयार नहीं है।

गोविन्द मिश्र अपने सभी उपन्यासों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में आ रहे बदलावों पर दृष्टिपात करते हैं। चाहें वह बदलाव सकारात्मक हो या नकारात्मक। आज स्त्रियाँ घर की सीमाओं को तोड़कर बाहर समाज तक अपना कार्य-क्षेत्र विस्तृत कर चुकी हैं। ऐसी स्थिति में पुरुष द्वारा उसे सहयोग की अपेक्षा होती है, लेकिन जब उसे सहयोग के बजाय अविश्वास, लांछन का सामना करना पड़ता है तो स्थित त्रासदीय हो जाती है। 'तुम्हारी रोशनी में', 'धीरे-समीरे', 'कोहरे में कैद रंग', 'उतरती हुयी धूप', 'धूल पौधों पर' उपन्यासों में लेखक ने इस समस्या पर संवेदनात्मक पहलू पाठक के सामने रखा है।

'तुम्हारी रोशनी में' नायिका सुवर्णा को ऑफिस वालों की चुभती नजर का सामना करना पड़ता है 'वह अपना चेहरा' की मिसेज आजवानी शारीरिक शोषण का सामना कर रही है।

स्वतन्त्रता की चाह, आत्मनिर्भरता, स्वालम्बन के पश्चात् भी आधुनिक नारी कहीं-न-कहीं शोषित अवश्य है। कारण समाज जिसमें वह रह रही है। तमाम प्रगति के पश्चात् भी नारियों को शासित करने की जो भावना, दम्भ पुरुष समाज में व्याप्त है, वह उसे आगे बढ़ने से रोकता है। उपन्यासकार की नजरों में तमाम स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बावजूद भारतीय नारी की बुनाहट ही कुछ ऐसी है कि वह बार-बार अपने आप को बन्धनों में जकड़ा हुआ महसूस करती है। कभी पिता का बन्धन, तो कभी पति का बन्धन। बावजूद इसके जब उसे इस बन्धन से स्वतन्त्र होने का अवसर मिलता है तो वह निर्णय नहीं ले पाती–''मुझे अच्छी नहीं लगती अपनी यह बुनावट कि मैं स्वतन्त्रता भी चाहती हूँ और बच्चे भी। अपनी सारी शिक्षा के बावजूद बुनियादी तौर पर मैं कहीं हिन्दुस्तानी औरत हूँ।''[६]

आधुनिकता और परम्परा के मध्य झूलती भारतीय नारी के ऐसे चित्र मिश्र जी के उपन्यासों में जगह-जगह आये हैं। सारी आधुनिकता और प्रगतिके बाद भी वह अपने लिए एक सहारा चाहती है। बावजूद इसके जब सहारे का आधार अर्थात् पति ही साथ न दे पाए, तो परिस्थिति विडम्बनात्मक हो जाती है। 'धीर-समीरे' की नायिका सुनंदा का पति शादी के दो वर्ष पश्चात् ही उसे और उसके बच्चे को छोड़कर भाग जाता है। नशे की लत के कारण उसका बाप उसे गुलाम बनाकर घर में रखता है। सुनंदा जब अपने बच्चे किशोर को छुड़ाकर जाने लगती है, तो उसका पति नन्दन उसे भी साथ ले चलने को कहता है–''मुझे साथ ले चलो सुनंदा, मैं इस कैद से आजादी चाहता हूँ..... मैं वहाँ तुम्हारी देखभाल करूँगा।''[७]

जो व्यक्ति पहले अपनी बीबी-बच्चे के देखभाल न करने के लिए घर छोड़ दिया था, अब वह उसी कार्य को क्यों कर करेगा? सुनन्दा ने नन्दन को बहुत प्रभावशाली उत्तर दिया–''जो अपनी देखभाल नहीं कर सकता, जो खुद नहीं चल सकता, वह दूसरों का सहारा क्या बनेगा, तुम इसी लायक हो कि तुम्हारा बाप तुम्हें कुमढ़े की तरह बेच आये..... पति नाम के छाते कि मुझे जरूरत नहीं है।''[८]

स्पष्ट है समाज में स्त्री की भूमिका स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में व्यापक स्तर पर बदलाव प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मिश्र जी ने इन बदलावों के सकारात्मक पक्षों को मानवीय संवेदना के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ''मिश्र जी की चिन्ता का रूप नारी की आत्म-सम्मान, उसकी स्वतन्त्रता, उसकी

महत्वाकांक्षा, उसकी सुरक्षा से जुड़ा है। उनके हर अगले उपन्यास में भारतीय सन्दर्भों में वर्तमान नारी की आधुनिकता की पुनः पहचान और पड़ताल जारी ही रहती है।"[९] इस प्रकार नारी को शिक्षा व स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ पारिवारिक जिम्मेदारियों के प्रति सचेत व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण १९८५, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० २१
२. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण १९८५, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १४९
३. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण १९८५, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १५९
४. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण १९८५, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ८९
५. पाँच आँगनों वाला घर–गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण २००५, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ३६
६. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, प्रथम संस्करण १९८५, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १५९
७. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, पेपर बैक संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १९५
८. तुम्हारी रोशनी में–गोविन्द मिश्र, पेपर बैक संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० १९५
९. गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम–चन्दकान्त बांदिवडेकर, नया संशोधित संस्करण २००७, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ५४

–असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी)
संत गणिनाथ राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुहम्मदाबाद, गोहना, मऊ (उ०प्र०)

किसान आत्महत्या यथार्थ और विकल्प : ढलती साँझ का सूरज

–कमल सिंह पटेल

भारत पारम्परिक रूप से ही कृषि प्रधान देश रहा है, देश की लगभग ७०% आबादी प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर रही है तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र की हिस्सेदारी लगभग १८% है। परन्तु वर्तमान में कृषि अनेक कारणों–जलवायु परिवर्तन, कृषिगत ऋण, महँगे खाद–बीज तथा तकनीकी व दिनों–दिन घटती उत्पादकता ने कृषि को घाटे का सौदा साबित किया है। स्वतन्त्रता की के पश्चात् सरकारों द्वारा हरितक्रान्ति अपनाने, नवीन खाद–बीज व तकनीकी के प्रयोग ने उत्पादकता को तो बढ़ावा दिया, परन्तु यह समृद्धि देश के सीमित क्षेत्र में ही सफल हुई इसने देश के अधिकांश सूखे क्षेत्रों व छोटे किसानों के समक्ष गम्भीर संकट उत्पन्न कर दिया। वहीं दूसरी और नब्बे के दशक में सरकार द्वारा अपनाई गई नवीन उदारवादी आर्थिक नीतियों ने भारतीय बाजार को सम्पूर्ण विश्व के उत्पादों के लिए खोल दिया, इसका सबसे बड़ा असर कृषि पर पड़ा, जिससे किसानों की स्थिति और बदतर हुई, जिसने किसानों को आत्महत्या जैसे कदम उठाने को मजबूर कर दिया। आलम यह है कि पिछले तीन दशकों में लगभग तीन लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्या का रास्ता अख्तियार किया है। इस संकट में न तो कोई सरकारी नीति समाधान ला पा रही है और न ही कोई सामाजिक कदम इन वास्तविकताओं को बदल पा रहे हैं।

किसान आत्महत्या से सम्पूर्ण देश में सर्वाधिक प्रभावित रहा है, महाराष्ट्र का मराठवाड़ा क्षेत्र, जहाँ सर्वाधिक किसानों (काश्तकारों) ने आत्महत्या की है। इसी वातावरण को कथानक बनाकर लेखिका मधु कांकरिया ने ढलती सांझ का सूरज नामक बेजोड़ उपन्यास प्रस्तुत किया है। लेखिका ने सफलता, सार्थकता तथा किसान जीवन की त्रासदी को उकेरने के साथ–साथ नये जीवन के दरवाजे खोलने का प्रयास भी किया है।

इस उपन्यास का कथानक देश के उन किसानों की व्यथा है जो कहलाते तो अन्नदाता हैं, परन्तु अभाव की मार से हार कर आत्महत्या तक करने को अभिशप्त हैं। लेखिका ने बेटे अविनाश व माँ मानसी ताई को मुख्य पात्र बनाकर किसानों की अभिशप्त आत्माओं की दशा को समझाने का प्रकल्प चुना है। स्वीटजरलैण्ड के बाजल शहर में बस गया अविनाश पिछले २० वर्षों में एक भी बार अपनी माँ से मिलने नहीं आता। वह भौतिक सुखों, नौकरी, पत्नी नैंसी में इस कदर लीन होता गया कि वह अपनी

माँ, घर, देश सबसे दूर होता चला गया। परन्तु एक दिन अपने दोस्त अभिषेक की माँ के साथ घटे हादशे के पश्चात् वह अपनी माँ की तलाश में वापस भारत आता है। लेखिका अविनाश लिए अपनी माँ की तलाश हेतु जो यात्रा चुनती हैं, उसमें अपने किरदारों क जरिए किसानों की जिन्दगी में गहराई से झाँकने का मार्मिक प्रयास किया गया है।

उपन्यास की कथा आगे दो आयामों को एक साथ लेकर चलती है। एक तरफ बेटे अविनाश द्वारा अपराधबोध ग्रस्त होकर अपनी माँ मानसी ताई की तलाश एक बेटे की व्यक्तिगत तलाश है, तो वहीं दूसरी तरफ लेखिका ने माँ मानसी मानढेर की तलाश हेतु एक ऐसा मार्ग रचना-बुना है, कि अविनाश अपने देश व गाँव के कृषकों की जीवन-दशा को नजदीक से देखे, परखे और समझे, और शायद मानसी ताई के मस्तिष्क में यह भाव रहा होगा कि जब अविनाश यात्रा के विभिन्न पड़ावों में जीवन की वास्तविकताओं से रूबरू होगा तो वह जीवन की सार्थकता वह अर्थवत्ता को समझ पायेगा कि इस जीवन का लक्ष्य सिर्फ अपनी लिप्साओं व सुखों का भोग करना मात्र न होकर जीवन का उद्देश्य सार्थकता वह अर्थव्यवस्था होना चाहिए कि हमने समाज व लोगों के लिए क्या कुछ किया।

अविनाश अपनी माँ से मिलने की ख्वाहिश लिए अतीत की स्मृतियों में डूबता-उतराता अपने घर पहुँचता है। पहुँचने पर अपना घर बन्द मिलता है, पड़ोसी आशा आंटी के घर जाने पर चाभी के साथ ही माँ की वस्तुस्थिति का पता चलता है कि उसकी अनुपस्थिति में उसकी माँ ने अकेलेपन में अपने ही घर में कैसा निर्वासितों से दिन काटे थे। आंटी ने बताया कि माँ अब यहाँ बहुत कम रहती है और साथ ही माँ का सन्देश मिलता है कि उनसे मिलने अविनाश को पारतुल गाँव जाना होगा। यही यात्रा उसे अनेक ऐसे त्रासद व विचलनकारी अनुभव देती है जो उसके जीवन को सम्पूर्ण अर्थों में बदलकर रख देती है। आगे का कथानक अविनाश द्वारा अपने माँ की तलाश के साथ-साथ अपने जीवन की सार्थकता व अर्थवत्ता की तलाश है।

अविनाश अपनी यात्रा में बाबुलतारा गाँव में बच्चों को देखकर भारत की पारिवारिक व सामाजिक संकल्पना पर अन्तर्मन में विचार करता है कि-"यहाँ बच्चे कितनी आसानी से पल जाते हैं, शायद संयुक्त परिवार की वजह से खुद उसका बचपन भी तो बकौल अम्मा गोदी से नीचे ही नहीं उतरा कभी दादा-दादी, कभी बुआ, कभी नानी, तो कभी पड़ोसन ही ले जाती उसे।"[१] वहीं दूसरी ओर स्विट्जरलैण्ड जैसे विकसित व सुविधा सम्पन्न देशों में बच्चे एकमात्र माता-पिता की जिम्मेदारी होते हैं। यही सामाजिकता व पारिवारिक बंधन है जो भारत के लोगों का सम्बल व आत्मविश्वास बनाये रखती है, अपने जीवन के प्रति व अकेलेपन से बचाए रखती थी।

अविनाश अन्तर्मन में जीवन-दर्शन के प्रति जब विचार करता है तो उसे अपनी माँ की कही हुई बात याद आती है कि-"उस जीवन का आविष्कार हमें ही करना पड़ता है जिसे हम जीना चाहते हैं।"[२] उसे स्विट्जरलैण्ड से वापस लौटने के पश्चात् अपने देश, शहर, घर व लोगों से जो प्रेम महसूस होता है वैसा उसने कभी स्विट्जरलैण्ड में महसूस नहीं किया। वह अन्तर्मन में विचार करता है कि-"आज

समझ पाया अम्मा की अपनी मूल आवश्यकता के विरुद्ध जाकर जीवन जिया नहीं जा सकता, काटा भले ही जाए।''[३]

आगे अविनाश की मुलाकात बाबुलतारा गाँव में 'आधारबड संस्था'' के संस्थापक गोविन्द गिरी से होती है तो वह अविनाश को उसकी माँ मानसी ताई की दत्तक बिटिया शोभा के बारे में बताते हैं। अविनाश जब बलखड़ी गाँव शोभा से मिलने जाता है तो वहाँ उसका सामना किसान आत्महत्या की वास्तविकात से होता है। गोविन्दगिरी शोभा के पति दिलीप की आत्महत्या के बारे में बताते हैं, जो घटना अविनाश को विचलित कर देती है। दिलीप द्वारा बैंक का कर्ज न चुका पाने पर बैंक द्वारा चिपकाई गई नोटिस के डर से दिलीप इस रास्ते का चुनाव कर लेता है। दिलीप की पत्नी शोभा बताती है कि–''उस नोटिस ने बहुत डरा दिया था उन्हें। लगा रही सही इज्जत भी अब गई, बची-खुची जमीन भी गई, क्योंकि जमीन बैंक के पास गिरवी रखी थी।''[४] आगे अविनाश जब गोविन्द गिरी से पूछता है कि सरकार ने इस आत्महत्या पर कुछ मुआवजा दिया तो गोविन्दगिरी फड़फड़ाते हुए कहते हैं कि–''अभी तक तो नहीं मिला। उम्मीद तो है लेकिन मिलना मुश्किल लगता है..... सारा गाँव जानता है, सरपंच जानते हैं कि इस घर में सुसाइड हुई है लेकिन फिर भी उन्हें (सरकार को) प्रमाण चाहिए क्योंकि जमीन और कर्ज दिलीप के पिता के नाम था, जबकि आत्महत्या पुत्र ने की।''[५] इस परिवार की मदद के लिए मानसी ताई ने आधारबड संस्था के सहयोग से सिलाई मशीन वह दो बकरियाँ दिला दी थी तथा शोभा की बेटी के नाम बैंक में कुछ फिक्स डिपॉजिट भी करा दिया था।

हमारे देश में कृषि-क्षेत्र में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की भागीदारी अधिक है, परन्तु पुरुष प्रधान समाज होने के कारण अधिकांश मलकियत पुरुषों के नाम पर ही है। इसलिए सरकार वह समाज महिलाओं को सिर्फ कृषि मजदूर के रूप में देखते हैं, किसान के रूप में नहीं। उपन्यास में एक महिला किसान के प्रति सरकार के दोहरे रवैए व मुआवजा न देने की उदासीनता का वृत्तान्त सरपंच काशीनाथ नारायण बताते हैं–''मराठवाड़ा की अनन्तपुर जिले में एक महिला किसान थी सुधामणी। उसने आत्महत्या की लेकिन उसकी बेटी को आज तक कोई मुआवजा नहीं मिला क्योंकि वह एक औरत थी इसलिए कोई उसे किसान ही नहीं मानता।''[६]

कृषि एक जोखिमपूर्ण व्यवसाय है इसकी सफलता मानसून, बीज, खाद, कीटनाशक आदि की सही व संतुलित मात्रा पर निर्भर करती है। किसी एक का भी असंतुलन फसल के विनाश का कारण बनता है, जिससे किसान को घाटा होता है। किसान इस समया स बचने के लिए कर्ज लेते हैं वह कर्ज सरकारी बैंकों, प्राइवेट संस्थानों व आसपास के सूदखोरों से लेते हैं और यही कर्जजाल उनके शोषण और आत्महत्या का प्रमुख कारण बनता है। पहले तो सरकारी संस्थानों से किसानों को कर्ज ही बड़ी मुश्किल से मिल पाता है। सरकारों द्वारा किसानों को कर्ज देने तथा उनसे कर्ज वसूली में की जाने वाली ज्यादतियों पर बाला साहब कहते हैं–''आज तो आत्महत्याएँ बढ़ रही हैं उसे पीछे एक मोटा कारण तो यही है कि पहले तो किसानों को सब्ज-बाग दिखाकर ललचा दिया जाता है कि पैसे नहीं हैं तो कोई चिन्ता नहीं

अमुक फसल लगाओ बहुत लाभ होगा। इन सालों मेां जमीन या सम्पत्ति रेहन रखकर कर्जा मिलना आसान भी हो गया है, भोला-भाला किसान अधिक लाभ के लालच में जमीन रेहन पर रखकर भी ले लेता है कर्जा। किसी कारण से वर्षा नहीं हुई या समय पर नहीं हुई तो किसान फँस जाता है, कर्ज चुका नहीं पाता है। इन मल्टीनेशनल्स ने बैंकों में गुण्डे पाल रखे हैं, किसानों से वसूली के लिए इन गुण्डों ने किसान की कमजोर कड़ी पकड़ ली है, वह है उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बस उसी को तार-तार कर देते हैं ये। घर के बाहर नोटिस चिपका देना, खुले आम धमकाना उनके हथियार हैं।''[७]

किसानों को कर्ज के लिए भी विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है, विभिन्न सरकारी योजनाएँ तो बनती हैं, परन्तु सरकारी बैंकों से कर्ज की कानूनी प्रक्रिया अत्यधिक जटिल होने के कारण किसान को कर्ज मिलना टेढ़ी खीर ही साबित होता है और साथ ही जरूरत के हिसाब से भी कर्ज नहीं मिल पाता है, और यदि कर्ज मिल भी गया तो उसमें भी एजेण्ट व अन्य को कमीशन देनी पड़ती है। वहीं दूसरी ओर सूदखोरों का व्यवहार थोड़ा आत्मीय होता है और प्रक्रिया भी आसान होती है। कोई भी गारण्टी रखो और कर्ज ले जाओ, हालाँकि इसका खामियाजा भी किसानों को भरना पड़ता है। यदि सरकार ने कर्ज माफ भी किया तो सिर्फ सरकारी बैंकों का कर्ज माफ होता है, क्योंकि प्राइवेट कर्ज की तो गिनती सरकार कर्ज में करती ही नहीं, जबकि अधिकांश किसान सूदखोरी से कर्ज लेते हैं। इन सूदखोरों के कर्ज की दरें इतनी अधिक ऊँची होती हैं कि कर्ज को चुकाने में किसान पीढ़ी-दर-पीढ़ी खपता रहता है, परन्तु कर्ज चुकता ही नहीं होता।

बढ़ते बाजारवाद व वैश्वीकरण की नीतियों ने भी किसानों की स्थिति को और खराब बना दिया है। कृषि और बाजार का चरित्र पूरी तरह बदल गया है, कृषिगत खर्च बढ़ते जा रहे हैं, लेकिन न तो उस मात्रा में उत्पादन बढ़ रहा और न तो उस मात्रा में कृषि उत्पादों के दाम बढ़ रहे हैं। गोविन्दगिरि किसानों पर पड़े इन प्रभावों के विषय में अविनाश से बताते हैं कि-''पहले गाँव का प्रबन्ध ऐसा था कि सब एक-दूसरे से जुड़े थे, और सबके पास काम था.... नब्बे के दशक के बाद से आपका खुला बाजार क्या आया, बाजार का चरित्र ही बिगड़ गया, गाँव का ढाँचा ही चरमरा गया। वह ग्रामीण संस्कृति ही चौपट हो गई। इसी दशक ने किसान को इज्जत से जिल्लत की दुनिया में पहुँचाया है, फिर भी १९९८ तक सप्ताह में एक-आध शेतकरी की 'सुसाइड' की खबर आती थी। २००२ के बाद यह हुआ कि हर दिन एक शेतकरी आत्महत्या कर रहा है।''[८]

अविनाश को मामा सरकार द्वारा अपनाये गए नवीन आर्थिक सुधारों के किसानों पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष प्रभावों के बारे में बताते हैं कि-''पहले हम छह माह किसानी करते थे, और ऑफ सीजन में छोटे-मोटे कुछ काम कर लेते थे। जैसे मुझे मूँज की रस्सी बनाना बहुत अच्छा आता है मेरी बनाई रस्सी हॉट में फटाफट बिक जाती थी पर जब से प्लास्टिक की रस्सी आई बाजार में, मेरी रस्सी को कोई पूछता भी नहीं। .....पहले ग्रामीण जीवन में कई खिड़कियाँ खुली हुई थी, छोटे-छोटे रोजगारों की, अब सब बन्द हैं।''[९] किसानों के समक्ष अन्य समस्याएँ भी हैं-लगातार कृषि जोतों का आकार घटता जा रहा है,

बीज, खाद, कीटनाशक, जुताई महँगी होती जा रही है, ऐसे में बदलती मौसमी दशाओं के कारण बरसात व सूखे की समस्या कृषि को और घाटे का सौदा साबित कर देती हैं।

इस उपन्यास में लेखिका ने न सिर्फ किसान जीवन की समस्याओं को विस्तार पूर्वक उजागर किया, बल्कि उन समस्याओं के समाधान हेतु कुछ विकल्प भी प्रस्तुत किए हैं। लेखिका ने सर्वप्रथम मानसी ताई को चुना, जो सीधे तौर पर आत्महत्या करने वाले किसान परिवारों की व्यक्तिगत मदद करती हैं, तो दूसरी तरफ गोविन्दगिरी जैसे लोग हैं जो आधारबड संस्था के माध्यम से किसान परिवारों की सिलाई पशीन व बकरियाँ आदि प्रदान करके उनके आय के साधनों को उपलब्ध कराते हैं। मानी ताई उनके साथ मिलकर किसान हितों में कार्य करती हैं। यह आधारबड संस्था किसानों का स्वयं सहायता समूह है, जो किसानों के हितों के लिए संघर्ष करती है।

आगे अविनाश भी जब अपनी माँ की तलाश में पड़ाव-दर-पड़ाव पारतुल, बाबुलतारा, बलखड़े व कमथड़ी जैसे गाँवों में जाता है तो गाँव वालों की दयनीय स्थिति देखकर उसका अन्तर्मन द्रवित हो उठता है। वह अपनी माँ की आसमिक मृत्यु व किसानों की इस स्थिति के लिए खुद को अपराधबोध ग्रस्त महसूस करता है, वह निश्चय करता है कि-"मैं उगते सूर्य की इस पवित्र लालिमा की कसम खाकर कहता हूँ अम्मा, कि अब अर्थ में जीवन नहीं, जीवन में अर्थ ढूँढूगा और तभी अम्मा तेरा अस्थि कलश विसर्जित करूँगा जब इस पीड़ित जन-समुदाय के लिए कुछ कर सकूँगा.... यह वादा रहा मेरा तुमसे अम्मा।"[१०]

अपनी माँ की मृत्यु की खबर सुनकर अविनाश स्विट्जरलैण्ड वापस जाने का विचार त्याग कर अपने मामा के साथ उनके गाँव कमथड़ी में रहने का निश्चिय करता है। वह गाँव में सड़क की समस्या को देखकर गाँव के लोगों के सहयोग से व अपने कुछ मित्रों की मदद से गाँव की रोड को हाईवे से जुड़वाता है। गाँव में पानी की समस्या के समाधान हेतु गाँव वालों के सहयोग से तालाब खुदाई होती है, जिसमें वर्षा के जल को संरक्षित किया जा सके। अविनाश 'सेव फार्मर्स' संस्था का रजिस्ट्रेशन करवाता है, जिनके सहोग से पारतुल गाँव में नहर खुदाई होती है। किसानों की अन्य मदद व जागरूकता हेतु 'किसान प्रशिक्षण केन्द्र', 'किसान बचाओ क्लब', 'फार्मर्स बेसिक ट्रेनिंग सेण्टर', कृषि उपज मण्डी', 'उमंग क्लब', 'उड़ान संस्था', जैसे स्वयं सहायता समूहों का गठन कर उसमें गाँव के किसानों, युवाओं व महिलाओं को अपने अधिकारों व नई तकनीक, प्रौद्योगिकी और सरकारी योजनाओं के विषय में जागरूक करता है।

उपन्यास को इस समाधान परख नजरिए से पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में शायद लेखिका का यह मन्तव्य रहा होगा, कि इसे पढ़ने वाले पाठक न सिर्फ इसे पढ़ें और भूल जाएँ, अपितु यह पाठक के अन्दर ऐसी बेकरारी उत्पन्न करे कि पाठक अपने स्तर पर किसानोां के लिए कुछ कर गुजरने का प्रयास करें, यही इस उपन्यास की वास्तविक अर्थवसत्ता व सार्थकता होगी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. ढलती सांझ का सूरज–मधु कांकरिया, पृ० ४४
२. वही, पृ० १९
३. वही, पृ० ३९
४. वही, पृ० ५१
५. वही, पृ० ५२
६. वही, पृ० ५३
७. वही, पृ० ६०
८. वही, पृ० ६५
९. वही, पृ० १४४

–शोधार्थी (हिन्दी-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
मो० : ९६७०६७८४६७

समीक्षा

समय-समाज और साहित्य के सौन्दर्य को उकेरते निबन्ध

–डॉ० लव कुमार

श्री कुबेरनाथ राय आधुनिक युगीन हिन्दी निबन्ध-साधना के गम्भीर और ऊँचे पिरामिड के रूप में स्थापित हैं, क्योंकि एक रचनाकार के रूप में उनका स्वायत्त अस्तित्व ही नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र अभीष्ट भी सामने रहा है। हर रचनाकार के भीतर एक और सर्जक व्यक्तित्व होता है, जिसमें वह अनेकानेक रास्तों से प्रवेश करता है। अपने मर्मस्थल तक पहुँचने की चाभी उसी सर्जन के पास होती है, जो उसकी निजता की साक्षी भी होती है। श्री राय के निबन्धों में उनकी गहरी रचना-दृष्टि, सांस्कृतिक चिन्तन और साहित्यिक समृद्धि का अनुभव होता है। अध्ययन की व्यापकता और उसे वृहत्तर सन्दर्भों में प्रस्तुत करने की कला उनके पास है। इसलिए श्री राय का निबन्ध-लेखन हिन्दी गद्य-साहित्य को एक निर्णायक और चिन्तनपरक मोड़ तक पहुँचाती है, जिसके बाद एक तटस्थ सैद्धान्तिक और प्रायोगिक समालोचना की निहायत जरूरत होती है। साहित्य ही देश, काल, परिवेश प्रभावित समाज के चित्र और चरित्र को यथारूप प्रतिबिम्बित करता है। आज के वैश्विक परिदृश्य में देश और परिवेश की सीमाएँ सिमट गई हैं अथवा समाप्त हो गई हैं और समय में अन्तर्लीन हो गई हैं। ऐसी स्थिति में कुबेरनाथ राय के निबन्धों से हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक जागरूकता के साथ-साथ निबन्ध-लेखन की अनिवार्यता का आभास होता है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से श्री राय के एकनिष्ठ अनन्य अध्येता मुहम्मद हारून रशीद खान ने उनके विचारपरक और चिन्तन परक रूप में लिखित बिखरे निबन्धों को खोजकर 'धर्म निरपेक्षता बनाम राष्ट्रीय संस्कृति' में प्रस्तुत किया है। समीक्ष्य पुस्तक में डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ की सारगर्भित भूमिका के अलावा आभार-ज्ञापन और सोलह निबन्धों के साथ अन्त में 'स्मृतिशेष कुबेरनाथ राय : डायरियों में बन्द जीवन संघर्ष' नाम से संकलनकर्त्ता को आत्माभिव्यक्ति भी है, जो श्री राय के अध्यापन और जीवन से जुड़े उन अज्ञात तथ्यों को अनावृत्त करती है, जिसके कारण तनावग्रस्त होकर उन्हें असमय मृत्यु-मुख में जाना पड़ा। एक सामर्थ्यवान और विचार-सम्पन्न लेखक की असामयिक मृत्यु से जुड़ी बातें सच्ची हैं, अतः इसे जानना और लेखकीय जीवन की त्रासदी को समझना चाहिए। संकलनकर्त्ता ने इसके कुछेक पक्ष सामने रखे हैं, सम्भव है कि कई अनुद्घाटित पक्ष अब भी अँधेरे में दबे पड़े हों।

समीक्ष्य पुस्तक में संकलित श्री राय के सोलह निबन्धों में से 'बोदलेयर की कविता पर एक टिप्पणी', 'खलील जिब्रान : एक आधुनिक सूफी कवि' और 'परिष्कारीकरण (केथार्सिस) पर एक पुनर्चिन्तन' मूलतः अंग्रेजी में लिखित हैं तथा बहुत पहले प्रकाशित भी। इसका हिन्दी अनुवाद मुहम्मद

हारून रसीद खान ने किया है और वह भी प्रकाशित है। इन तीनों के हिन्दी अनुवाद मानो श्री राय द्वारा मौलिक रूप से लिखे गये महसूस होते हैं। अनुवादक ने अपने रचना-अनुभव, अपनी भाषिक-क्षमता और निबन्ध के लिए उपयुक्त वाक्य-विन्यास की संजीदगी के साथ जिस सीमाबद्ध रूपरेखा में इन निबन्धों का अनुवाद किया है, वह उनकी साहित्यिक प्रकृति और गम्भीर अध्येता व्यक्तित्व का परिचायक है। भाव, भाषा और वाक्य-संयोजन, अनुभूति और संवेदना-किसी भी दृष्टि से यह श्री राय की मौलिक रचना का आस्वाद देने वाला अनुवाद-कार्य है। श्री राय की इतिहास, संस्कृति, धर्म, किरात, अप्सरा, ईश्वर, मानवता इत्यादि में गहरी रुचि व आस्था से अनुवादक परिचित हैं। इन सबके प्रति गर्व और सम्मान का भाव उनके निबन्ध लेखन की मूल शक्ति है। ये चीजें हमें अपनी परम्परा, साहित्य और संस्कृति से, जीवन की सहजता और प्रवहमानता से जोड़ती हैं, इसलिए इसका क्षरण असहनीय है। यह आत्मबोध जहाँ अनुवादक के लिए रचना-दृष्टि का काम करती है, वहीं अनुवाद कार्य की गम्भीरता को भी बढ़ाती है।

'होमरीय गाथा और रामकथा' तथा 'आदि स्रोत होमर' के चिन्तन का केन्द्र 'इलियड' और 'ओडिसी' है, जिसके बहाने यूनानी सभ्यता आौर संस्कृति, चिन्तन व दर्शन, साहित्य और जीवन के मूलभूत उद्देश्यों और साहित्य के निहितार्थों की तलाश की गई है। कुबेरनाथ राय लम्बे समय तक असम में अध्यापन कार्य से जुड़े रहे और इस दौरान वहाँ के साहित्यि और संस्कृति से जुड़ने का अवसर मिला। 'असमिया वैष्णव धर्म का क्रम विकास' उनकी उसी चिन्तनधारा और अन्वेषण-वृत्ति का शोधपरक आख्यान है। इसमें उन्होंने अपने विचारों और तर्कों को भागवत धर्म और असम प्रदेश, सामान्य धार्मिक पटभूमि, असम में नव्य वैष्णववाद, विघटन एवं अन्य शाखाएँ और साम्प्रदायिक संगठन केन्द्र के विचार-बिन्दुओं में बाँटकर अपनी वैचारिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण निबन्ध 'इतिहास और शुक-सारिका कथा' और 'धर्म निरपेक्षता बनाम राष्ट्रीय संस्कृति' है, जिसमें राष्ट्रीयता और राष्ट्र-भक्ति के अर्थों, उसकी परिधि, लोक प्रचलित अवधारणा और इतिहास से अनावश्यक छेड़छाड़ जैसे ज्वलन्त मुद्रों पर निबंध बेबाक अभिव्यक्ति है। इन दिनों धर्म निरपेक्षता और राष्ट्रवाद पर विमर्शों का गम्भीर दौर चल रहा है। इस क्रम में, उन्हें भरतीय संस्कृति, धर्म और चिन्तन में विरोधाभास नजर आता है, वे राष्ट्रवाद की खिल्ली उड़ाते हैं और इसे संस्कृति से जोड़ने का विरोध करते हुए राष्ट्र की सांस्कृतिक इयत्ता को एक सिरे से नकार कर भारत कोा विभिन्न विरोधी संस्कृतियों का वह सांस्कृतिक समूहों वाला मिश्रित देश साबित करते हैं। यहीं चिन्तनीय है कि भारतीय सांस्कृतिकता और राष्ट्रीयता प्रायः समरस और परस्पर अविच्छिन्न है। इसलिए राष्ट्रीय संस्कृति भारतीय धर्म निरपेक्षता और सांस्कृतिकता पर आधार होने से एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त कर सका है। कदाचित् इन सबके मूल में गर्हित राजनीति ही है, हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिसकी घुसपैठ से न केवल समय-समज और साहित्य-संस्कृति बल्कि धर्म, कर्म और ईश्वरीय चिन्तन भी प्रभावित हो चुका है। 'धर्म निरपेक्षता' और 'संस्कृति' अपने-आप में व्यापक अर्थ-सन्दर्भों, निहितार्थों और विचार-परिधि को समेटे हुए है। राष्ट्रवाद

जब हमारी संस्कृति अर्थात् हमारी परम्परा, दर्शन, अध्यात्म, मूल्यमान, आदर्श, कला, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान आदि पर पूर्णतया आश्रित हो जाए तो संस्कृति आधारित यह राष्ट्रवाद ही धर्म निरपेक्षता के मूल भाव और चेतना से जुड़कर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहला सकता है। यह दीगर बात है कि भारतीय संस्कृति और लोकजीवन को समझने के लिए, धर्म निरपेक्षता के वास्तविक संज्ञान के लिए धर्म और लोक-साहित्य के साथ जिये जा रहे जीवन का अनुशीलन परमावश्यक है। यह हमारे लोकजीवन का महासागर है, जिसमें भूत भविष्य और वर्तमान सुरक्षित है। लोकजीवन और धर्म से माननीय संवेदनाएँ इस तरह संगुम्फित हैं कि उसमें जीवन के विविध पक्ष, सुख-दुख, हर्ष-विषशद, आशा-निराशा, वेदना-करुणा, प्रेम-आक्रोश, जीवन-मूल्य, उदात्त भावनाएँ और आदर्श स्वाभाविक ढंग से सहज शिल्प के साथ अपनी प्रासंगिकता और स्थायित्व बनाये हुये हैं। कुबेरनाथ राय के निबन्ध इसी सत्य और तथ्य के जोरदार समर्थक हैं।

'ब्रह्मर्षि वंश विस्तर का मंथन' और 'स्वामी सहजानन्द : एक पुण्य स्मरण' वस्तुतः स्वामी सहजानन्द सरस्वती के कर्म चिन्तन-प्रक्रिया, वैश्विक दृष्टि और किसान आन्दोलन से जुड़ी मूलभूत बातों, तथ्यों पर तर्कपरक विचार प्रस्तुत करने वाला निबन्ध है। इसके अलावा 'गीत गोविन्द', 'वे एक कर्मयोगी थे', 'देश-बोध और मैथिलीशरण गुप्त', 'ब्रह्मराक्षस : अर्थबीज और विस्तार' तथा 'सम्पूर्ण क्रान्ति के सन्दर्भ में' अपनी विषय-वस्तुगत प्रकृति और गहन चिन्तन परक विचाराभिव्यक्ति के कारण उल्लेखनीय हैं। विषय की गहराई में उतरकर रचना कीी आत्मा की तलाश और व्यक्तित्व के परिपाश्वों का संतुलित निदर्शन प्रस्तुत करना तथा विषय के साथ विचारों की अन्विति बनाये रखकर पूर्ण न्याय की चेष्टा श्री राय की निबन्ध कला का परिचायक है। 'अपने साहित्य-धर्म के बारे में' निबन्ध में अपने लेखन, चिन्तन और जीवन की समझ के बारे में निर्विकार रूप से लिखना श्री राय से ही सम्भव है।

मुहम्मद हारून रशीद खान द्वारा संकलित/संचयित श्री कुबेरनाथ राय के इन निबन्धों को पढ़कर यह धारणा दृढ़ होती है कि साहित्यकार इस असार संसार में अपने व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों से विचारों और संवेदनाओं का स्रोत प्रवाहित करता है और मनुष्य-बोध को प्रतिष्ठित करता है। वह सार्थक जीवन-मूल्यों की स्थापना कर एक सजग प्रहरी के रूप में व्यक्ति और समाज को एक सही दिशा देता है। यही संवेदना सृजन का मूल है, इसलिए रचनाकार की संवेदना में जितनी गहराई होगी, उसका रचित साहित्य उतना ही प्रभावी होगा, उसके विचार उतने ही साघन और परिपक्व होंगे। संवेदना वहीं अपना डेरा जमाती है, जहाँ मनुष्य-बोध होता है और कह सकते हैं कि कुबेरनाथ राय का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक चेतना सम्पन्न मनुष्य-बोध उनके द्वारा रचित साहित्य का प्राण है। अतः शुष्क, नीरस और अशक्त सृजन के विपरीत कुबेरनाथ राय के निबन्धों में मानवीय समर्पण, जागरूक संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति की सहजता का अन्तर्बोध होता है, जो निबन्धकार के भीतर आत्मविश्वास से भरी निश्चिन्तता, वैचारिक निर्भीकता एवं मानसिक निर्द्वन्द्वता की परिचायक भी है।

अन्ततः, 'धर्म निरपेक्षता बनाम राष्ट्रीय संस्कृति' के ज्यादातर निबन्ध समय, समाज और साहित्य अर्थात् समग्र जीवन के वास्तविक सौन्दर्य के तथ्यपरक अन्वेषण के साक्षी हैं–यही श्री कुबेरनाथ राय के निबन्ध लेखन की मूल प्रकृति और प्रवृत्ति है। स्पष्टतः वे भारतीय जीवन, दर्शन, संस्कृति, धर्म, साहित्य, ईश्वर भक्ति और कर्म के प्रति पारदर्शी एवं गहरा सम्मान भाव रखने वाले सर्जक हैं। ऐसे निबन्धों की सार्थकता इसमें है कि वह युग–सापेक्ष होने के साथ सदैव जीवित रहते हैं और काल उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर सकता। जिस निबन्ध में धर्म, संस्कृति, विचार और मानवीयता की धड़कन हो, वह स्थायित्व का हकदार होता है। कहना न होगा कि श्री कुबेरनाथ राय ने इस दायित्व का निर्वहन किया है। समीक्ष्य कृति को भूलवश सम्पादित कहने की प्रतीति होती है, जबकि यह श्री राय के निबन्धों का संकलन/संचयन है। अगली आवृत्ति में निश्चय ही इसका परिमार्जन होगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. हारून रशीद खान : धर्म निरपेक्षता बनाम संस्कृति–कुबेरनाथ राय, प्र०सं० २०२३, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, प्रयागराज, मूल्य ७९५/–, पृ० २४३

–ग्राम–दुर्गापुर, पोस्ट–गढ़बनैली
जिला–पूर्णिया (बिहार)–८५४३२५
मो०: ९४३०२७६२९९